

ॐ अर्हम्



श्रीमद्-यशोविजय उपाध्याय-विरचित-अवचूरि-सहिता

तथा

संपादक-कृत-[हींदी]-भावार्थ-चन्द्रिका-समेता

अज्ञातनामक-पूर्वधर-पूर्वाचार्य-प्रवर-विरचिता

स्तव - परिज्ञा

राजकोटस्थ-

प्रभुदास बेचरदास पारेख

इत्यनेन संपादिताः प्रकाशिताश्च श्रावक-बन्धु-धन-सहायेन ।

प्रतयः-[सं०] १०००, [हीन्दी] ५००

श्री वीर संवत्-२४९७

श्री-वि० सं० २०२७

इ० सं० १९७१

ब्यावर (राजस्थान) स्थ-श्री कृष्णा आर्ट-मुद्रणालये

पृष्ठ-१०४ तथा ९६ पर्यन्ता मुद्रिताः ।

शेष मुद्रक : वसंत प्रिन्टींग प्रेस, धीकांटा - अमदावाद

॥ मूल्यम्-(६) रूप्यक-षट्कम् ॥

ॐ अर्हम्



श्रीमद्-यशोविजय उपाध्याय-विरचित-अवचूरि-सहिता

तथा

संपादक-कृत-[हींदी]-भावार्थ-चन्द्रिका-समेता

अज्ञातनामक-पूर्वधर-पूर्वाचार्य-प्रवर-विरचिता

स्तव - परिज्ञा

राजकोटस्थ-

प्रभुदास बेचरदास पारेख

इत्यनेन संपादिताः प्रकाशिताश्च श्रावक-बन्धु-धन-सहायेन ।

प्रतयः-[सं०] १०००, [हीन्दी] ५००

श्री वीर संवत्-२४९७

श्री-वि० सं० २०२७

इ० सं० १९७१

व्यावर (राजस्थान) स्थ-श्री कृष्णा आर्ट-मुद्रणालये

पृष्ठ-१०४ तथा ९६ पर्यन्ता मुद्रिताः ।

शेष मुद्रक : वसंत प्रिन्टिंग प्रेस, धीकांटा - अमदाबाद

॥ मूल्यम् - (६) रूप्यक - षट्कम् ॥

प्रास्ताविक

१ स्तव परिज्ञा

२०३ गाथामयी स्तव परिज्ञा ग्रन्थ श्री हरिभद्रसूरिवर विरचित पञ्च वस्तु महाग्रन्थ में गाथा १११० से १३१२ मत्था तक में है। उस पर पञ्च वस्तु पर की श्री हरीभद्रसूरिश्वरजीकी टीका भी है। पञ्च वस्तु ग्रन्थ आगमोदय समिति से छपा है।

उपाध्याय श्री यशोबिजयजी महाराजजीने अपना प्रतिमा शतक नामक ग्रन्थ की ६७ वीं गाथा में यह स्तव परिज्ञा ग्रन्थ पूरेपूरा रस दीया है, और उसके पर अपनी अवचूरिका भी रची है।

जो यहां छपी गई है, और साथ में जो पञ्च वस्तु ग्रन्थ गत पाठ भेद हैं, वे [] कौंस में बताये गये हैं। श्री उपाध्यायजी महाराजका कहना हैकि—यह ग्रन्थ—दृष्टिवाद आदि से उद्धृत किया गया है।

“ इयं खलु समुद्धृता सरस—दृष्टिवादादितः ”

इस ग्रन्थ की रचना दशपूर्वधर युमप्रधान आचार्यश्री बज्रस्वामिके बाद हुई मादम पडती है। किन्तु कब हुई? किन्हीं ने की? पता नहीं। इसकी बहुत सी गाथायें पचाशक आदि ग्रन्थ में पाई जाती है।

२ स्तव परिज्ञा का संबन्ध

सर्व संग त्यागी पूज्य श्री मूनिमहात्माओं दिनभर अपने धर्मानुष्ठान द्वारा धर्म-ध्यान में रहते हुए भी बिच में रहता अवकाश में सुस्वाध्याय करने का शाखानुसार रहता है। इसके अनुसंधान में—सत् शाखों का स्वाध्याय करने के लिए ज्ञान परिज्ञा और स्तव परिज्ञा आदि सूचित किये गये हैं। स्तव परिज्ञा ग्रन्थ पूरेपूरा रस दिया गया है।

स्तव परिज्ञा में—द्रव्य स्तव और भावस्तव के स्वरूप के विचार है।

३ चार अनुयोग

संख्यातीत खुबीओं से भरे जैनधर्म में—जैन शासन में—जैन दर्शन में—चार अनुयोगरूपतया शाख निरूपण की व्यवस्था की गई है।

प्रदार्थ स्वरूप का निरूपण द्रव्यानुयोग में बताया गया है। उस पदार्थ का आत्मगुण के विकास आदि में उपयोग आदि चरणानुयोग में बताये गये हैं। गणितानुयोग और कथानुयोग उपरोक्त दो मुख्य अनुयोगों के सहकारी अनुयोगों माद्धम पडते हैं। पदार्थ का स्वरूप संख्या-नाप-वजन-प्रमाण आदि के गणित के नियमपूर्वक बताये जा सकते हैं। उसी तरह-चरणानुयोग से बताई गई बातें दृष्टान्त और कथा से ग्राह्यताया बता दी जा सकते हैं। कथायें दो प्रकार की रहती है। १ पतन विषयक, और गुण विकास विषयक। इसी तरह सकल शास्त्र रचना चार मुख्य अनुयोगों में व्यवस्थित रखी गई माद्धम पडती हैं।

दृष्टान्त—पत्थर क्या है? एक नक्कर पदार्थ है। द्रव्यानुयोग में बात आ गई। पत्थर की संख्या आदि बताई दी जावे, वह गणितानुयोग से बताया जावे। जीवन में पत्थर का अच्छा और बुरा कौनसा उपयोग हो सके? यह चरणानुयोग का, और किसने कैसा उपयोग किया? वह कथानुयोग का विषय बन जाय। गणित बिना पदार्थ का योग्य स्वरूप दिखाया न जा सके, और कथा बिना चरण का पतन और विकास का स्वरूप असरकारक तथा समझाया जा न सके।

आत्मा कैसा पदार्थ है? परमाणु कैसा पदार्थ है? यह द्रव्यानुयोग से बताया जा सके। और गणित के नियम से संख्या-प्रमाण-आदि बताये जा सके। और चरणानुयोग से आत्मा का विकास और पतन के स्वरूप बताये जा सके। कथानुयोग से असरकारकपना दिखाया जावे। इस हेतु से चार अनुयोग की निरूपण पद्धति खूब व्यवस्थित पद्धति भी माद्धम पडेगी।

आध्यात्मिक गुण विकास के कई स्वरूप दिये गये हैं। जो मोक्ष की प्राप्ति में उपयोगी होकर, मोक्षमार्ग रूप बना रहे, जिसके नाम-धर्म, रत्नत्रयी, चरण-करण, चारित्र, आध्यात्मिक विकास, आत्मिकगुण विकास, मोक्षमार्ग, आदि कई नाम प्रसिद्ध हैं।

तो—स्तव परिज्ञा का विषय—चरणानुयोग की साथ संबन्ध रखता है।

४ दो प्रकार के स्तव

भाव स्तव का लक्षण—अट्टारह हजार शीलांग का पालन बताया है। और द्रव्य स्तव का लक्षण—भाव स्तव की स्थिति प्राप्त करने के लिए जो जो किये जावे, वे सभी द्रव्य स्तव। उसमें जिन प्रतिमा पूजा से लेकर सभी का समावेश हो जाता है। सम्यग् दर्शन की प्राप्ति, देश विरति का पालन, आदि उसमें समाविष्ट किये गये।

५ स्याद्वाद का आश्रय

द्रव्यानुयोग में — अनेक सांगोपांग पद्धति से विश्व का निरूपण जैन शास्त्रों में— जैन शासन में है। प्रत्येक पद्धति का निरूपण स्वतंत्र शास्त्र रूपतया भी किये गये हैं।

उसी तरह — चरणानुयोग में भी चरण विषयक स्वतंत्र—स्वतंत्र अनेक पद्धतियाँ बताई गईं। द्रव्यानुयोग दृष्टि से विश्व का स्वरूप निरूपण अनेक दृष्टियों से अनेक पद्धतियों से किया गया है। तदन विभिन्न विभिन्न स्वरूप के मालूम पडने पर भी स्याद्वाद से परस्पर के संबन्ध बैठ जाता है। उसी तरह से चरणानुयोग दृष्टिसे कई पद्धतियाँ आत्मगुण विकास प्रक्रिया से बताई गई है। इस ग्रन्थ में दृष्टान्त तथा-द्रव्यभाव स्तव, और दाम-शील तप-भाव को घटा कर बह बताया गया है। उसी तरह से कई प्रकार की पद्धतियाँ शास्त्रों में बताई गई है।

६ वेद शास्त्र विषयक विचार

इस ग्रन्थ में जिन प्रतिमा पूजा में हिंसा अहिंसा का विचार किया गया है। यज्ञार्थ की हिंसा अहिंसा विषयक विचार भी बताया है। वेद संबंधी पौरुषेय-अपौरुषेय की प्रासङ्गिकचर्चा भी की गई है। उसविषय में धर्म शास्त्रीयता आदि के विषय में (गुजराती) भावार्थ चन्द्रिका के प्रास्ताविक में कुछ मौलिक बातें लीखी जायेंगी।

७ शारीरिक निर्बलता आदि कारणों से शुद्धिपत्रक नहीं दिया है। विज्ञवाचकवर्ग स्वयं योग्य सुधार समझकर वांचने की कृपा करें। अनेक स्खलनादि के लीए क्षमा याचना शिवाय दूसरा उपाय नहि। कृपया हिन्दी भाषा सुधार कर वांचीये।

राजकोट-२
काण्व शुक्ला ५ मी
२०२७

प्रभुदास बेचरदास पारेख

सावचूरिक - स्तव - परिज्ञा-

विषयानुक्रमः

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अवचूरिकाकार-मङ्गलादि	२	अ-साधुः	४५
पञ्च-वस्तु-प्रसङ्गसंगतिः	३	अ साधु-सु-साधु-स्वरूपे	४६
द्रव्य-भाव-स्तव-व्याख्या	॥	अ-साधुः	४७
भूमि-शुद्धि	४	साधु-परीक्षा	४८
अ-प्रीतिपरित्यागः	५	भाव-चारित्र्यम्	४९
काष्ठादि-दलशुद्धिः	६	द्रव्य-स्तव-भाव-स्तवयोः संबन्धः	५०
शुद्धा-Sशुद्ध-ज्ञानोपायाः	७	मुनीनामऽपि द्रव्य-स्तवः	५१
मृतकाऽनऽतिसंधानम्	८	“बहुकानां प्रामाण्यमेव” इति न	६५
स्वा-Sशय-वृद्धिः-	१०	बहुगत-प्रामाण्ये दोषः	६६
जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठा	११	बहूनां म्लेच्छकानां किं न प्रमाणम् ?	६७
श्री-सङ्घ-पूजा	१३	म्लेच्छ-वाक्य-वेद-वाक्य-चर्चा	६८
प्रतिदिन-जिन-पूजा-विधिः	१६	विद्वदिभर्विचार्यम्	७०
द्रव्य-स्तवस्य भाव-स्तवे हेतुत्वा-Sहेतुत्वे	१७	संभवरूप-स्व-रूपम्	७१
अ-प्रधान-द्रव्यस्त्व-विचारः	१८	जिन-भवना-Sऽदि-गुण-साधनता	७२
प्रधान-द्रव्य-स्तव-लक्षण-विचारः	२०	जिन-भवना-Sऽदाव-Sहिंसा-सिद्धिः	७३
अ-प्रधान-द्रव्य-स्तवस्य तुच्छत्वम्	२१	हिंसायाम-Sधर्मः	७४
द्रव्य-स्तव-भाव-स्तवयोर्भेद-विचारः	२२	जिन-भवना-Sऽदाव-Sहिंसा	७५
द्वयोः फले	२५	पात्र-भेदे हिंसा-तार-तम्यम्	७६
शीलाऽङ्ग-स्वरूपम्	२७	यतनयाऽल्पा हिंसा, नाऽपि	७७
तस्य विस्तृता-Sर्थः	२८	यतना-महत्त्वम्	७८
इदमऽत्र रहस्यम्	३१	आव-जिनोपकारः	७९
सु-साधुः	३६	निवृत्ति-प्रधाना हिंसा अहिंसा च	८०
प्रमाण-सिद्ध-भाव-साधुः	३९	पूजया चोपकाराऽनुपकारौ कथम् ?	८१
प्रमाण-सिद्धत्वे सु-वर्ण-दृष्टा-Sन्तः	४३	पूज्य पूजा-फल-चर्चा	८२
दृष्टा-Sन्तोपनयः	४४	वेद-वचनं न संभवत्स्व-रूपम्	८३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
वेद-वचना-ऽपौरुषेयत्व-परिहारः	८६	द्रव्य-भाव-स्तव-विचारश्च	९३
वेदा-ऽ पौरुषेयत्व परिहारः	८७	द्रव्य-भाव-स्तवा-ऽधिकारिणः	९४
प्रामाणिक-परंपरा-संप्रदाया-ऽभावौ	८७	तयोरऽल्पत्व-महत्त्वे	९५
प्रामाणिक-परंपरा-संप्रदाया-ऽभावौ	८९	तयोर्दाना-ऽऽदिषु घटना	९६
जिना-ऽऽगमेऽ पौरुषेयत्वाक्षेप-परिहासै	९०	दाना-ऽऽदि-क्रमः,	
वक्त्र-ऽधीनं वचनम्		परस्पर-घटनाया अतिदेशश्च	९७
सन्न्यायो न लघुः कर्तव्यः	९१	उपसंहारः, समाप्तिश्च	९८
वेदे-ऽहिंसा-हिंसोपदेशः	९२	३८ तम गाथा-परिष्कार-हार्दम्	९९
इति वेद-विचारः		तिलक-प्रशंसा (प्रासङ्गिकम्)	१०४

प्राथमिक द्रव्य सहायकों की नामावली

(द्रव्य के योग्य प्रमाण में पुस्तकों भेजने का)

- १००) श्री जोधपुर (मारवाड) के एक गृहस्थ, मारफत लीलाधरभाइ काळीदास देसाई
- ५०) श्री फतहचंदजी कोचर—कलकत्ता
- २२) श्री चंपालालजी कोचर— ”
- १००) श्री छोटेलालजी सुराणा—कलकत्ता [पुष्पाबहिन के स्मरणार्थ]
- २००) श्री नेमचंद लक्ष्मीचंद—सलोट—दाठा
- १००) श्री जीवराज अगारचंद गुलेच्छा—फलोधि

५७२

श्री जीवराजजी रामपुरीयाजी की पेढी में जमा

- २००) श्री लक्ष्मीलालजी संपतलालजी लुंकड—सोलापुर
- १००) श्री आसकरणजी वेद—पटना
- २५०) श्री नेमीचंदजी वेद—पटना

५५०

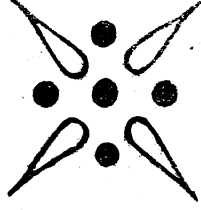
११२२

[हिन्दी] भावार्थ-चन्द्रिक-युक्त-स्तव-परिज्ञाका

विषयानुक्रम

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अवचूरिकार का मंगलादि	२	शीलांगों का स्वरूप	२५
प्रस्तावना	२	शीलांगों का अखंडपना	२७
ग्रन्थ प्रारंभ	२	उसमें सूत्र प्रामाण्य	३०
द्रव्य-भाव-स्तव-व्याख्या	३	आज्ञा से आराधकभाव	३१
जिन भवन कराने का विधि	४	जसूत्र प्रवृत्ति से कर्म बन्ध	३२
भूमि-शुद्धि	५	गीतार्थ-निश्चित-मुनि	३३
काष्ठादि-दल-शुद्धि	६	गीतार्थ की और तन्निश्चित की चर्चा	३४
कर्मकर वर्ग को संतोष-प्रदान	७	विरतिभाव का एकपना	३५
उदारता का फल और सु-आशय की वृद्धि	८	मुनिपना के सच्चे गुण	३६
जिन विव कराने का विधि	९	तैलपात्र धरका और-राधा वेधकरका दृष्टान्त	३८
विब प्रतिष्ठा-विधि	१०	भाव साधु	३९
श्री संघ-पूजाका अति महत्त्व	११	सुवर्ण के गुण	४०
श्री संघ का महत्त्व	१२	चार प्रकार से परीक्षा	४१
आगे का पूजा विधि	१३	सु-साधु-स्वरूप	४२
पूजा विधि शास्त्र विहित है	१४	साधुपरीक्षा	४३
प्रधान-अप्रधान द्रव्य स्तव	१५	द्रव्य स्तव से भाव स्तव की प्राप्ति	४५
प्रधान द्रव्य स्तव की व्याख्या	१६	द्रव्य और भाव स्तव का परस्पर संबन्ध	४६
द्रव्य-भाव स्तव में औचित्य	१७	अनुमोदना रूप मुनि कृत द्रव्य स्तव	४७
द्रव्य स्तव में भाव की अल्पता	१८	प्रभु से अनुमोदितता का विचार	४८
सौषध-विनौषध से रोग हरण	२०	द्रव्य स्तव की अनुमोदना	४९
द्रव्य स्तव से भाव स्तव बड़ा है	२१	कारण में कार्य रहता है	५०
अट्टारह सहस्र शीलांग	२२	जिन भवनादि-प्रभु सम्मत	५१
स्तवों से लाभ	२२	उपचार-विनय-द्रव्य-स्तवरूप	५२
भाव स्तव का स्वरूप	२२	मुनि की चैत्य वंदना	५३
अट्टारह शीलांगरूप-भाव-स्तव	२३	मुनि को गौण भाव से द्रव्य स्तव	५४

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
कूप-दृष्टान्त	५५	यतना का सामर्थ्य	७६
द्रव्य स्तव की अनुमोदना	५८	यतना का महत्त्व	७७
मुनि की द्रव्य स्तव में अनुमोदना	५९	थोडा दोष भी लाभप्रद	७८
हिंसा-अहिंसा का विचार	६०	उपकार का अभाव, हिंसा भी	७९
हिंसा-अहिंसा	६१	अनाशातना और अहिंसा	८०
लोक में प्रमाण के विषय में—	६३	पौरुषेय-अपौरुषेय विचार	८१
मूढेतर भाव योग का प्रामाण्य	६४	पौरुषेय-अपौरुषेयपना	८२
“सर्वज्ञ प्रमाता नहीं” पूर्व पक्ष	६५	वेद वचनो की असंभवत्प्रपता	८९
मलेच्छो का वचन क्यों प्रमाण नहीं ?	६६	संभवत्-असंभवत्-विचार	९०
वचन मात्र प्रवर्तक नहीं	६९	वेदहिंसा-अहिंसा का उपसंहार	९१
भावापत्ति-निस्तार गुण	७०	द्रव्य-भाव स्तव का उपसंहार	९२
आरंभान्तर की निवृत्तिदा प्रवृत्ति	७१	द्रव्य-भाव स्तवों की विशेषता	९३
वैद्य का दृष्टान्त	७२	द्रव्य भाव स्तव में भेद	९४
हिंसा धर्म न हो सके	७३	दानादि में द्रव्य-भाव स्तव-पना	९५
हिंसा में तार-तम्य	७४	उपसंहार	९६
हिंसा का अल्प-बहुत्व	७५		



प्रसिद्ध-श्रीमन्महोपाध्याय-यशो-विजय-गणि-वर-विरचिता-ऽवचूरिका-सहिता—

श्री-पूर्व-धर-पूर्वा-ऽऽचार्य-विरचितत्वेनोक्ता

स्तव-परिज्ञा

[अवचूरिका-कार मङ्गलम्]

अथ स्तव-परिज्ञया प्रथम-देशना-देश्यया
गुरोर्गारिम-सारया स्तव-विधिः परिस्तूयते.
इयं खलु समुद्धृता स-रस-दृष्टि-वादा-ऽऽदितः
श्रुतं निर-ऽघमुत्तमं समय-वेदिभिर्भण्यते. ॥१॥

अथ-

“स्तव-परिज्ञा अत्य-ऽन्तोपयोगिनी”

इति—

यथा-

पठच-वस्तुके दृष्टा,

तथा-

लिख्यते । :—

तथा हि :—

“एअमिहमुत्तम-सुअं ‘आइ’-सहाओ थय-परिण्णा-ऽऽइ.”

“वण्णिज्जइ जीए थओ दु-विहो वि गुणा-ऽऽइ-भावेण.” ॥ १ ॥

‡ “एतत्
इह

उत्तम-श्रुतम्-उत्तमा-ऽर्था-
ऽभिधानात् ।

‡ आदि-शब्दात्-
द्वार-गाथोक्ताः—

स्तव-परिज्ञा-ऽऽदयः-प्राभृत-विशेषा
गृह्यन्ते ।

‡ तत्र—

“ का स्तव-परिज्ञा ?” इति प्रश्न-वाक्यमाऽऽश्रित्य, आह :—

“यस्याम्-ग्रन्थ-पद्धतौ

वर्ण्यन्ते—

स्तवः—

गुणा-ऽऽदि-भावेन-गुण-प्रधान-रूपतया,

द्वि-विधोऽपि-द्रव्य-भावोपपद-

गुणा-ऽधि-भावेन-गौणा-ऽधिक-प्रधान-

स्तव-वाच्यः

भावेन-इत्यपि पाठा-ऽन्तरा-ऽर्थः,

“सा स्तव-परिज्ञा” इति-उत्तर-वाक्यं दृश्यम् ॥ १ ॥

‡ उक्तमेवोपदिशति, :—

दब्बे भावे अ थओ. “दब्बे-भाव-थय-रागओ विहिणा

जिण-भवणा-ऽऽइ-विहाणं.” “भाव-थओ-संजमो सुद्धो.” ॥२॥

पञ्चा० ६-२

‡ “द्रव्यः”—इति द्रव्य-विषयः

स्तवः-भवति ।

“भावः”—इति भाव-विषयः

‡ तत्र—

“द्रव्ये-द्रव्य-विषयकः स्तवः—

भाव-स्तव-रागतः— * [वक्ष्यमाण-भाव-स्तवा-ऽनुरागेण]

विधिना—[वक्ष्यमाणेन]

जिन-भवना-ऽऽदि-विधानम्—[यथा-संभवं करणम्]

आदिना—जिन-बिम्ब-पूजा-ऽऽदि-ग्रहः ।”

“भाव-स्तवेच्छा-प्रयोज्य प्रवृत्ति-विषयो जिन-भवना-ऽऽदि-विधानं द्रव्य-

* [एतादृक्-कोष्ठका-ऽन्तर्गततयो यन् निर्दिष्टम्, तद् ज्ञेयं मुद्रित-पञ्च-वस्तु-ग्रन्थादुद्धृतमिति ।

स्तवत्वेन व्यवहार्यम्” इत्य-ऽर्थः ।

‡ “भाव-स्तवः- पुनः

संयमः-साधु-क्रिया-रूपः

शुद्धः-निर-ऽतिचारः” ॥२॥

तत्र—

“जिण-भवन-कारण-विही, :-सुद्धा भूमि, दलं च कट्टा-ऽऽई, ।

भिअगा-ऽण-ऽइ-संधाणं, सा-ऽऽसय-वुद्धी, समासेण.” ॥३॥

पञ्चा० ७-९

‡ “जिन-भवन-कारण विधिः- अयं द्रष्टव्य, :-

यदुत—

शुद्धा भूमिः-वक्ष्यभाणया शुद्ध्या,

तथा -

दलं च काष्ठा-ऽऽदि- [शुद्धमेव] ।

तथा-

भृतक [०कानाम्]-कर्म-कराणाम्

अन-ऽति-संधानम्-अ-ध्याजेन वर्तनम्

स्वा-ऽऽ(सु-आ) शयस्य-शुभ-भावस्य

वृद्धिः- [वर्धनम्] ।

समासेन-संक्षेपेण-

एष विधिः” ॥३॥

‡ (भूमि-) शुद्धिमेवाऽऽह, :-

“द्वे भावे अ तहा सुद्धा भूमो” “पएस-ऽकीला य ।

द्वे. “ऽपत्तिग-रहिया अन्नेसिं होइ भावे उ.” ॥४॥

पञ्चा० ७-१०

‡ “द्रव्ये
भावे च

शुद्धा
भूमिः ।”

‡ यथा-सङ्ख्यं स्वरूपमाऽऽह :-

“प्रदेशे-तपस्वि-जनोचितै

अ-कीला-अस्थ्या-ऽऽदि-रहिता

द्रव्ये-इति द्रव्य-शुद्धा ।”

‡ अ-प्रीति-रहिता

अन्येषाम्-प्राणिनाम्-आसन्नानाम्

“अ-समाधि-कारण-परिहारवती,” इत्य-ऽर्थः-

भावे तु-भाव-शुद्धा” ॥४॥

एतदेव समर्थयति :—

“धम्म-ऽस्थमुज्जएणं सव्वस्सा-ऽपत्तियं न कायव्वं.” ।

इय संजमो वि सेओ. इत्थ य भयवं उदा-ऽऽहरणं. ॥ ५ ॥

‡ धर्माऽर्थम्

अ-प्रीतिः

उद्यतेन-प्राणिना

न

सर्वस्य-जन्तोः

कार्या-[सर्वथा]

इय-एवम्-परा-ऽ-प्रीत्य-ऽ-करणेन

संयमोऽपि

श्रेयान्,-[नाऽन्यथा] ।

अत्र-अर्थे—

उदा-ऽऽहरणम् ।

भगवान्-[स्वयमेव वर्धमान-स्वामी]

॥ ५ ॥

“कथम् ?” इत्याऽऽह :—

“सो तावसा-ऽऽसमाओ तेसिं अ-प्पत्तियं मुणेऊणं ।

परमं अ-बोहि-बीअं, तओ गओ हंत-ऽ-काले वि.” ॥ ६ ॥

पञ्चा० ७-१५.

‡ सः-भगवान्

तेषाम्-तापसानाम्

तापसा-ऽऽश्रमात्-पितृव्य-

अ-प्रीतिम्-अ-प्रणिधानम्

भूत-[मित्र-] कुल-पति-संबन्धिनः

मत्त्वा-मनः-पययिण,

“किं भूतम् ?”

परमम्—

अ-बोधि-बीजम्-गुण-द्वेषेण,

ततः-तापसा-ऽऽश्रमात्

“हन्त”-इत्युपदर्शने

गतः-[भगवान्]

अ-कालेऽपि-प्रावृष्यऽपि” ॥ ६ ॥

“इय सव्वेण वि सम्मं सकं अ-प्पत्तियं सहजणस्स ।

णियमा परिहरियव्वं.” “इयरम्मि सत्तत्त-चिंताओ.” ॥ ७ ॥

इय-एवम्-

सर्वेणाऽपि-पर लोका-ऽधिना

सम्यग्-उपायतः

शक्यम्-

अ-प्रणिधानम्-

सदा-सर्व-कालम्

जनस्य-प्राणि-निवहस्य

नियमात्-अवश्यन्तया

परिहर्तव्यम्-न कार्यम् ।

इतरस्मिन्-अ-शक्ये [हि] अ-प्रणिधाने

[स्व] सत्-तत्त्व-चिन्तैव-कर्तव्या ।

“ममाऽयं दोषः” इति बहिर्मुखत्वे,
अन्तर्मुखत्वे च-“औदासिन्यम्” ॥ ७ ॥

॥ उक्ता भूमि-शुद्धिः ॥

‡ काष्ठा-ऽऽदि-शुद्धिमाऽऽह :-

कट्टा-ऽऽई वि दलं इह सुद्धं, जं देवता-ऽऽदुपवणाओ ।

नो अ-विहिणोवणीअं, सयं च कारावियं जं नो ॥ ८ ॥

पञ्चा० ७-१७

काष्ठा-ऽऽद्यऽपि दलम्

अत्र-विधाने-

“शुद्धम्”-इति विधेय-निर्देशः,

यद्-

न

देवता-ऽऽद्युपवनात्-

अ-विधिना-बलिबर्दा-ऽऽदि-मारणेन

“आदिना-भिन्न-क्रमेण-

उपनीतम्-आनीतम्,

स्मशाना-ऽऽदि-ग्रहः”

स्वयं च-

कारितम्

नो

यच् च-इष्टका-ऽऽदि ।

“तत्-कारि-वर्गतः क्रीतमुचित-क्रयेण” इत्युक्तेः ॥ ८ ॥

तस्म वि अ इमो णेओ सुद्धा-ऽ-सुद्ध-परिजाणणोवाओ, :- ।

तक्कह-गहणाओ जो सउणेयर-सन्निवाओ उ. ॥ ९ ॥

पञ्चा० ७-१८

‡ तस्याऽपि च

अयम्-वक्ष्यमाणः

ज्ञेयः

शुद्धा-ऽशुद्ध-प्राप्ति-परिज्ञानो-

पायः-काष्ठा-ऽऽदेः—

‡ तत्-कथा-ग्रहणा-ऽऽदौ [प्रस्तुते]

यः

शकुनेतरयोः-शकुना-ऽ-पशकुनयोः

सन्निपास्तः-मीलनम् ॥१॥

“कः सः ? ” इत्याह :—

नन्दा-ऽऽइ-सुद्धो सद्दो, भरिञ्चो कलसो, ऽथ सुन्दरा पुरुसा ।

सुह-जोगा-ऽऽई य सउणो. कंदिय-सद्दा-ऽऽई इयरो उ. ॥१०॥

पञ्चा ७ १९

‡ नन्या-ऽऽदि-शुभ-शब्दः-आनन्द-कृत्,

तथा—

भृतः

कलशः-शुभोदका ऽऽदेः,

अथ

सुन्दराः

पुरुषाः-धर्म-चारिणः,

शुभ-योगा-ऽऽदिश्च-व्यवहारः-

लग्नाऽऽदिः

‡ आक्रन्दित-शब्दा-ऽऽदिस्तु

इतरः-अपशकुनः ॥१०॥

उक्ता दल-शुद्धिः ।

विशेषमाऽऽह :—

सुद्धस्स वि गहियस्सं पसत्थ-दिञ्चहम्मि सुह-मुहुत्तेणं ।

संकामणम्मि वि पुणो विरणेया सउणमा-ऽऽइया. ॥११॥ दारं ।

पञ्चा ७-२० ॥

शुद्धस्याऽपि

गृहीतस्य-काष्ठा-ऽऽदेः

प्रशस्ते दिवसे-शुक्ले पञ्चम्या-ऽऽदौ

शुभ-मुहूर्तेन-केनचित्

संकामणेऽपि पुनः-तस्य

काष्ठा-ऽऽदेः

विज्ञेयाः

शकुना-ऽऽदयः-आदेय-हेयतया ॥११॥

इति-द्वारम्

कारणे वि य तस्सिह भियगा-ऽण-ऽति-संधाणं न कायव्वं ।
अवि चाऽहिग-प्पयाणं. दिट्ठा-ऽदिट्ठ-फलं एयं. ॥ १२ ॥

पञ्चा० ७-२१ ॥

‡ कारणेऽपि च तस्य-जिन-भवनस्य इह- भृतकानाम्-कर्म-करणाम्	अति-संधानम्— न कर्तव्यम्, अपि च अधिक-प्रदानम्-[कर्तव्यम्],
‡ दृष्टा-ऽ-दृष्ट-फलम्	एतत् :—

‡ “अधिकं दानम्—

अधिक-कार्य-करणा-ऽऽशय-वैपुल्याभ्याम्” ॥ १२ ॥

एतदेवाऽऽह, :—

ते तुच्छगा वराया अहिण दढं उव्वेति परितोसं ।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं ततो अहियं पकुव्वंति. ॥ १३ ॥

॥ पञ्चा० ७-२२ ॥

‡ ते-भृतकाः तुच्छाः वराकाः-["अल्पाः" इत्य-ऽर्थः]	अधिकेन-प्रदानेन दृढमुपयान्ति परितोषम् ।
तुष्टाश्च-ते तत्र-प्रक्रान्ते कर्मणि ततः-प्राक्तनात् कर्मणः [दत्ताद् वा]	अधिकम्- प्रकुर्वन्ति ।

दृष्टं फलमेतद् ॥ १३ ॥

धम्म-पसंसाए तह केइ निबंधंति बोहि-वीआइं ।
अन्ने उ लहुअ-कम्मा एत्तोचिअ संबुज्जांति. ॥ १४ ॥

पञ्चा० ७-२३ ॥

धर्म-प्रशंसया
तथा-ऊर्जिता-ऽऽचारत्वेन
केऽपि-भृतकाः

निवृत्तान्ति
बोधि-बोजानि कुशल-भावात् ।

अन्ये तु—
लघु-कर्माणः-भृतकाः

अत एव-औदार्य-पक्ष-पातात्
संप्रबुध्यन्ते-मार्गमेव प्रपद्यन्ते ॥१४॥

लोगे अ साहु-वाओ अ-तुच्छ-भावेण “सोहणो धम्मो” ।
“पुरिसुत्तम-पणीओ,” पभावणा एवं तित्थस्स. ॥१५॥

पञ्चा० ७-२४

‡ लोके च
साधु वादः-भवति, :—

अ-तुच्छ-भावेन-अ-कार्पण्येन
“शोभनो धर्मः”-इत्येवं-भूतः ।

‡ तथा—

“पुरुषोत्तम-प्रणीतः”-सर्वत्र दया-प्रवृत्तेः ।
प्रभावना
एवम्—

तीर्थस्य-भवति ।

अ-दृष्ट-फलमेतद् ॥१५॥

द्वारम् ।

उक्तम्—फलवद् भृतका ऽन ऽति-संधानम् ।

‡ अथ—

स्वा-ऽऽशय वृद्धिमाऽऽह, :—

सा-[सु-आ]ऽऽसय बुद्धी वि इहं भुवण-गुरु-जिणिं-गुण-परिणाए
तब्बिब-ठावण-ऽत्थं सुद्ध-पवित्तीइ णियमेणं. ॥ १६ ॥

पठ्या० ७-२५ ॥

‡ स्वा-[सु-आ]ऽऽशय-वृद्धिरऽपि
अत्र-प्रक्रमे

भुवन-गुरु-जिनेन्द्र-गुण परिज्ञया-
हेतु भूतया

“भवा-ऽम्भो-निधि-निमग्न-सत्त्वानाम्—

आलम्बन-भूतोऽयम्” इति-एवम् ।

तद्-बिम्ब-स्थापना-ऽर्थम्-जिन-
बिम्ब-स्थापनायैव
शुद्ध-प्रवृत्तेः-कारणात्

नियमेन-अवश्यंतया
[स्वा-ऽऽशय-वृद्धिः]
॥ १६ ॥

“पेच्छिस्सं एत्थ अहं वंदणग-निमित्तमाऽऽगए साहू ।
कय-पुण्णे भगवंते गुण-रयण-निही महा-सत्ते ॥ १७ ॥

पञ्चा० ७-२६ ॥

‡ द्रक्ष्यामि
अत्र-भवने-
अहम्
वन्दन-निमित्तम्
आगतान्

साधून्-मोक्ष-मार्ग साधकान्
कृत पुण्यान्
भगवन्तः
गुण-रत्न निधोन्-
महा सत्त्वान्-द्रष्टव्यान् ॥१७॥

पडिबुञ्झिस्संति इह दृष्टूण जिणिंद-बिम्बम-ऽ-कलंकं ।
अण्णे वि भव-सत्ता काहंति ततो परम-धम्मं ॥ १८ ॥

पञ्चा० ७-२७ ॥

‡ प्रतिभोत्स्यन्ते-प्रतिबोधं यास्यन्ति
इह-जिन-भवने
दृष्ट्वा
अन्येऽपि
भव्य सत्त्वाः-लघु-कर्माणः
करिष्यन्ति

जिन बिम्बम्-मोह ति मिरा ऽपनयन-
हेतुम्
अ-कलङ्कन्-कलङ्क रहितम् ।
ततः—
परम् धर्मम्-संयम-रूपम् ॥१८॥

ता, एअं मे वित्तं जद-ऽत्थ
विणिअगमेति अण-ऽवरयं.” ।

इय चिन्ता-ऽ-परिवडिया

सा-[सु-आ]-ऽऽसय-बुद्धी उ मोक्ख-फला ॥१९॥

पञ्चा० ७-२८ ॥

‡ तत्-तस्मात्
एतत्-[एतदेव वित्तम्]
मम
वित्तम्-श्लाघ्यम्,
यद्
इयम्-एव
चिन्ता

अन्न-जिन-भवने
(विनियोगम्)-उपयोगम्
एति-गच्छति
अन-ऽवरतम्-सदा ।”

अ-प्रतिपतिता-
स्वा-ऽऽशय-वृद्धिः —
उच्यते,

मोक्ष-फला-इयम् ॥१९॥

जिन-भवन-कारण-विधिरुक्तः ॥

‡ अन-ऽन्तर-करणीयमाऽऽह, :—

निष्पाद्य जयणाए जिण-भवनं सुदरं, तहिं विंभं ।
विहि-कारियमऽह विहिणा पइदुविज्जा अ-संभंतो ॥२०॥

पठ्या० ७-४३ ॥

निष्पाद्य
यतनया-परिणतोदका-ऽऽदि-ग्रहण-
रूपया

जिन-भवनम्-जिना-ऽऽयतनम्
सुन्दरम्, —

तन्न-भवने
बिम्बम्-भगवतः
विधि-कारितम्-सद् एव

विधिना-वक्ष्यमाणेन
प्रतिष्ठापयेत्
अ संभ्रान्तः-अना-ऽऽकुलः सद् ॥२०

‡ “विधि-कारितम्” इत्युक्तम्, तमाऽऽह, :—

जिण-विंभ-कारण-विहीः-काले संपूइऊण कत्तारं, ।
विहवोचिअ-मुल्ल-ऽप्पणमऽण-ऽहस्स सुहेण भावेण ॥२१॥

पठ्या० ७

जिन-बिम्ब कारण विधि:

अयं द्रष्टव्यः, :—

यदुत, :—

काले शुभे

संपूज्य-

कर्त्तारम्-वास-चन्दना-ऽऽदिभिः,

विभवोचित-मूल्या-ऽर्पणम्-

स-गौरवम्—

अस्य—

अन-ऽघस्य-अ-पापस्य

शुभेन

भावेन-मनः-प्रणिधानेन ॥ २१ ॥

‡ अपवादमाऽऽह, :—

तारिसयस्साऽ-भावे तस्सेव हिय-ऽत्थमुज्जओ णवरं ।

णियमेइ विंब-मोल्लं जहोचियं कालमाऽऽसज्ज, ॥२२॥

पञ्चा० ८-८ ॥

‡ तादृशस्य-अन-ऽघस्य कर्तुः

तस्यैव-कर्तुः

हिना-ऽर्थम्-

उद्यतः-अन-ऽर्थं परिजिहीर्षया

(विधिना)

नवरम्-

अ-भावे,

नियमयति-सङ्ख्या-ऽऽदिना

बिम्ब मूल्यम्-द्रम्मा-ऽऽदि

यथोचितम्-[यदुचितम्]

कालमाऽऽश्रित्य [न परं व्यंसयति,

न चाऽऽत्मानम्] ॥२२॥

णिप्फणस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एसो, :—

स-ट्ठाणे सुह-जोगे अहि-वासणमुचिय-पूआए, ॥ २३ ॥

पञ्चा० ८-१६

‡ निष्पन्नस्य च

सम्यक्-शुभ-भाव-वृद्धया

तस्य

स्व-स्थ-ने-यत्र तद् भविष्यति

शुभ-योगे-कालमऽधिकृत्य

प्रतिष्ठापने

विधिः

एषः-वक्षमाणः, :—

अभिवासना-क्रियते

उचित पूजया-विभवो-ऽनुसारतः ॥२३॥

चिइ-वंदण-थुइ-बुड्ढी, उस्सग्गो सासण-सूराए, ।

थय सरण, पूआ काले, ठवणा मंगल-पुट्वा उ. ॥ २४ ॥

दार गाहा

पञ्चा० ८-३२ ॥

‡ चैत्य वन्दना-सम्यक्
स्तुति-वृद्धिः,
तत्र—
कायोत्सर्गः
“साधुः”—इति-अ-संमूढः—
शासन-देवतायाः-श्रुत-देवतायाश्च,

स्तव स्मरणम्-चतुर्विंशति-स्तवस्य
(स्मरणम्),
“पूजा”—इति [जाति] पुष्पा-ऽऽदिना
काले-उचित-समये,
स्थापना
मङ्गल-पूर्वा-नमस्कार-पूर्वा ॥२४॥

सत्तीए संघ-पूआ, विसेस-पूआ उ बहु-गुणा एसा. ।

जं एस सुए भणिओः-“तित्थ-यरा-ऽण-ऽन्तरा संघो.” ॥२५

पठ्चा० ८-३८ ॥

‡ शक्त्या
विशेष-पूजायाः-दिगा-ऽऽदि-
गतायाः सकाशात्
बहु गुणा

सङ्ग-पूजा-विभवोचिता ।
एषा-सङ्ग पूजा,
“विषय-महत्त्वात्,
व्यापक-विषयत्वात्” इत्य-ऽर्थः ।

‡ व्याप्यात्वव्यापकस्य महत्त्वे उपपत्तिमाऽऽह, :—

यद्-यस्मात्, भणितत्वात्
एष -

सुए-आगमे [श्रुते-आगमे-उक्तः]
(भणितः), :—

“तीर्थं करा-ऽन-ऽन्तरः सङ्गः” इति,
अतः- “महानेषः” इति ॥२५॥

‡ एतदेवाऽऽह, :—

गुण-समुदाओ संघो. पवयण, तित्थं, ति होइ एग-ऽट्ठा. ।
तित्थ-यरो वि य एअं णमए गुरु-भावओ चेव. ॥२६॥

पठ्चा० ८-३९ ॥

‡ गुण समुदायः

सङ्गः-अनेक-प्राणि-स्थ-सम्यग्-
वर्जना-ऽऽद्या-ऽऽत्मकत्वात् ।

‡ “प्रवचनम्,
तीर्थम्”
इति

‡ तीर्थ-करोऽपि च
एनम्-सङ्घम्-तीर्थ-संज्ञितम्
नमति-धर्म-कथा-ऽऽदौ

भवन्ति
एका-ऽऽर्थिकाः-“एवमाऽऽदयो
ऽस्य शब्दाः ।” इति ।

गुरु-भावतः-
एव-
‘नमस्तीर्थाय’
इति-वचनात् ।
“एतद् एवम्” इति ॥२६॥

‡ अत्रेव—

उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :-

तत्पुत्रिव्या अरहयो, पूइय-पूआ य, विणय-कम्मं च ।
कय-किच्चो वि जह कहं कहेइ, णमए तहा तित्थं ॥२७॥

पठचा० ८-४० ॥

‡ तत् पूर्विका-तीर्थ-पूर्विका । अर्हत्ता-तदुक्ता-ऽनुष्ठान फलत्वात्,
“पूजित-पूजा च”-इति, भगवता पूजितस्य पूजा भवति,

“पूजित-पूजकत्वात् लोकस्य” ।

विनय कर्म च-कृत ज्ञता-धर्म-गर्भं कृतं भवति.

यदि वा-“किमऽन्यत् ?”

कृत-कृतयोऽपि

यथा—

तथा—

कथाम्

कथयति-धर्म-संबद्धाम्,

नमति

तीर्थम्

“तीर्थ-कर-नाम-कर्मोदयादेव,

औचित्य-प्रवृत्तेः” इति ॥२७॥

एअम्मि पूइयम्मि, णऽथि तयं, जं न पूइयं होइ. ।
भुवणेऽवि पूअणिज्जं ण अत्थि [ण गुण-ट्टाणं]ठाणं तओ अण्णं. २८

पठचा० ८-४१ ॥

‡ अस्मिन्- [एतस्मिन् सङ्घे]

पूजिते,

नाऽस्ति

तद्-वस्तु,

भुवनेऽपि-[सर्वत्र]

पूज्यम्-[पूजनीयम्]

नाऽस्ति-[न गुण-स्थानम्, कल्याणतः]

यद्

पूजितम्-[अभिनन्दितम्]

न

भवति ।

अन्यत्

ततः-[सङ्घात्]

स्थानम् ॥२८॥

तत्पूआ-परिणामो हंदि महा-विसयमो मुणेयव्वो ।

तद्-देस-पूअओ वि हु देवय-पूआ-ऽऽइ-णाएण. ॥२९॥

पठ्चा० ८-४२ ॥

‡ तत् पूजा परिणामः-सङ्घ-पूजा-
परिणामः

हंदि

तद्-देशे-[तद्-देश-पूजातोऽपि]

पूजयतोऽपि-एकत्वेन-

सर्व-पूजा-भावेन

महा-विषयः-एव

मन्तव्यः-सङ्घस्य महत्त्वात् ।

देवता पूजा-ऽऽदि-ज्ञातेन—

देवता-देश-पादा-ऽऽद्य-ऽ-चन्त-

प्रभृत्युदा-ऽऽहरणेन ।

“देश गत-क्रियायामऽपि—

देश-परिणामवद्

व्यक्ति-गत क्रियायां

सामान्य-विषयक प्रत्या-ऽऽसत्ति-विशेषात्

सामान्या-ऽव(च्छिन्न) च्छादित-यावत्-

व्यक्ति-विषयक-परिणामो महान्

(न) दुह्यपादः ।” इति-निष्कर्षः ॥२९॥

‡ विधि-शेषमाऽऽह, :—

तत्तो य पइ-दिणं सो करिज्ज पूअं जिणिंद-ठवणाए ।

विभवा-ऽणुसार-गुरुई काले णिययं विहाणेणं. ॥३०॥

ततः-प्रतिष्ठा-ऽन-ऽन्तरम्
 प्रति-दिनम्-
 असौ-श्रावकः
 कुर्यात्
 पूजाम्- अर्घ्यर्चन रूपाम्
 जिनेन्द्र-स्थापनायाः-“प्रतिमायाः”
 इत्य ऽर्थः

विभवा-ऽनुसार गुर्वीम्-उचित-
 वित्त-त्यागेन
 काले-उचिते एव
 नियताम्-भोजना ऽऽदिवत्
 विधानेन-“शुचित्वा ऽऽदिना”
 इत्य ऽर्थः ॥३०॥

(“ततः-असौ विधानेन प्रति दिनं जिनेन्द्र-स्थापनायाः काले नियतां विभवा-
 ऽनुसार गुर्वीं पूजां कुर्यात्”-इत्य-ऽन्वयः । संपादकः)

जिण-पूआए विहाणं,--सूर्इ-भूओ, तए चेव उवउत्तो, ।
 अण्ण-ऽंगम-ऽछिवन्तो करेइ जं [प]वर-वत्थूहिं. ॥३१॥

‡ जिण-पूजायाः

शुचो-भूतः-सन्
 स्नाना ऽऽदिना,
 तस्याम पूजायाम्
 उपयुक्तः-प्रणिधानवान्,
 अन्यद्-
 अङ्गम्-शिरः प्रभृति

विधानम्-एतद्, :-

अ-स्पृशन्.
 [याम्-पूजाम्]
 करोति
 यत्
 प्र-धर-वस्तुभिः-सु-गन्धि-
 पुष्पा-ऽऽदिभिः ॥३१॥

सुह-गंध-धूव-पाणीय-सव्वोसहिमा-ऽऽइएहिं तां ण्हवणं. ।
 कुंकुमगा-ऽऽइ-विलेवणमऽइ-सुरहिं मण-हरं मल्लं. ॥३२॥

शुभ-गन्ध धूप पानोय सव्वौषध्या ऽऽदिभिः
 तावत्,-प्रथममेव,
 स्नपनम्,
 भूयः—
 तव-ऽनु—
 अत्रि-सुरभि-गन्धेन

कुङ्कुमा-ऽऽदि-विलेपनम्,
 मनो हरम्-दर्शनेन च
 माल्यम्, इति ॥३२॥

विविह-निवेअणमाऽऽरत्तिगा-ऽऽइ धूव-थय-वन्दणं विहिणा ।
जह-सत्ति गीअ-वाइअ-णच्चण-दाणा-ऽऽइअं चेव, ॥३३॥

“विविधं नैवेद्यम्” इति =

चित्र-नैवेद्यम् ,

आरा त्रिका-ऽऽदि,

तद-ऽनु-

धूपः,

तथा—

यथा-शक्ति

गीत-वादित्र-नर्तन-दाना-ऽऽदि

तद-ऽनु-

स्तवः,

तद-ऽनु-

वन्दनम्

विधिना = विश्रब्धा-ऽऽदिना ।

चैव

आदि-शब्दात्=उचित-स्मरणम् ॥ ३

“विहिया-ऽणुट्टाणमिणं” ति एवमेयं सया करिंताणं ।

होइ चरणस्स् हेऊ णो.इह लोगाद-ऽवेक्खाए. ॥३४॥

॥ पञ्चा० ६-४ ॥

“विहिता-ऽनुष्ठानमिदम्”

इत्येव चेतस्य-ऽवधाय,

सदा

कुर्वताम्

न

इह-लोका-ऽऽद्य-ऽपेक्षया ।

“यावज्जीवमाऽऽराधना

अ-दृष्ट-विशेषे

निर्जरा-विशेषे च

हेतुः” इति-गाथा-ऽर्थः ॥४॥

चरणस्य

हेतुः

एतदेव

आदि-शब्दात् = कीर्त्या-ऽऽदि-

परिग्रहः ।

एवं चिय भाव-ऽत्थए आणा-आराहणा उ रागो वि. ।

जं पुण एय-विवरियं, तं दव्व-थओ वि णो होइ. ॥३५॥

पञ्चा० ६-५ ॥

एवमेव = अनेनैव विधिना

कुर्वतामेतद्

भाव-स्तवे = वक्ष्यमाण-लक्षणे

आज्ञा-ऽऽराधनात् = कारणात्

रागोऽपि —

‡ “तद्-रागाच्च द्रव्य-स्तवत्वम्,
तच्च-छरीर-घटक-विशेषण-संपत्तेः”

‡ यत् पुनः = जिन-भवना-ऽऽदि
एतद्-विपरीतम् = यादृच्छिकम्,
तद्

द्रव्य स्तवोऽपि

न

भवति = उत्सूत्रत्वात् ।

‡ “सूत्रा-ऽऽज्ञा-विशिष्ट-पूजात्वा-ऽऽदिनैव
भाव-स्तव-हेतुत्वात् ।” इति तार्किकाः ॥३५॥

‡ अभ्युपगमे दोषमाऽऽह, :—

भावे अइ-प्पसंगो. आणा-विवरीयमेव जं किञ्चि ।

इह चित्ता-ऽणुट्टाणं, तं दव्व-त्थओ भवे सव्वं. ॥३६॥

भावे = द्रव्य-स्तव-भावे च, तस्य

। अति-प्रसङ्गः = अति-व्याप्तिः ।

“कथम् ?”

आज्ञा-विपरीत मेव =
आगम-विरुद्धमेव

[एवम्—]

यत्

किञ्चित्

इह = लोके

चित्रा-ऽणुष्ठानम् = गृह-करणा-ऽऽदि,

तद्

सर्वम्—

द्रव्य-स्तवः = यथोक्त-लक्षणः

भवेत्—

“निमित्ता-ऽ-विशेषाद्” इति ॥३६॥

‡ व्यावर्तकमाऽऽशङ्क्याऽऽह, :—

“जं वीय-राय-गामि, अह तं” “नणु सिट्टणा-ऽऽदि वि स एवं ।

सियं ?” “उचियमेव जं, तं.” “आणा-ऽऽराहणा एवं.” ॥३७॥

‡ “यद्
वीत-राग-गामि = अनुष्ठानम्,

[अथ]
तत् = द्रव्य-स्तवः
अथ-इति चेत् ?”

‡ अत्राऽऽह, :—
“ननु” = इत्य-ऽ-क्षमायास्
शिष्टना-ऽऽद्य-ऽपि = आक्रो-
शना-ऽऽद्य-ऽपि वीत-राग-गामि
[सद्]

एवम् = “निमित्ता-ऽ-विशेषात्”
इति-भावः
स = द्रव्य-स्तवः [एव]
स्याद् = ? ।

‡ तस्मात् —
उचितमेव = वीत-राग-गामि
यत् =

तत् = द्रव्य-स्तवः ।

‡ “इत्थमुक्तौ दोषा-ऽ-भावः” इति चेत् ?

एवम् =

आज्ञा-ऽऽराधना = अवश्यं बक्तव्या ।

‡ “प्रायः—

आज्ञा-शुद्धस्यैवोचितत्वात्,” इति-भावः ॥३७॥

‡ एवं च—

“आज्ञा-शुद्धं

वीत-राग-गामि

भाव-स्तव-हेतुरऽनुष्ठानम्—

द्रव्य-स्तवः” इति निर्व्यूढम् ।

भाव-स्तवेऽति-व्याप्ति-वारणाय विशेष्यम् ।

अत्र

“विशेषण-द्वयम्—

भाव-स्तव-हेतुता-ऽवच्छेदक-परिचायकम् ।”

इति-“भाव-स्तव-हेतुत्वमेव लक्षणं सिध्यति ।”

‡ तत्राऽऽह, :—

“जं पुण एअ-वियुत्तं एग-ऽंतेणेष भाव-सुण्णंति ।

तं.” विसयम्मि वि ण तओ, भाव-थया-ऽ-हेउओ उचिओ ॥३८॥

यत् पुनः = अनुष्ठानम्
एतद्-वियुक्तम् = औचित्या-
ऽन्वेषणा-ऽऽदि-शून्यम्,

विषयेऽपि = वीत-रागा-ऽऽदौ
न
तकः - द्रव्य-स्तवः,

तद् = अनुष्ठानम्
एका-ऽन्तेनैव
भाव-शून्यम् = [आज्ञा-निरपेक्षतया]"
इति

भाव-स्थया-ऽ-हेतुओक्ति =
(भाव-स्तवा-ऽ-हेतुतः, इति)
“धर्म-पर-निर्देशात्—
भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वात्”
इत्य-ऽर्थः
उचितः—[यथा-भूतः]
“भाव-स्तवा-ऽङ्गं न”

अ-प्रधानस्तु भवत्येव ।

‡ हेतु-साध्या-ऽ-विशेष-परिहाराय—

“अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यो न ।”
इति-साध्यं व्याख्यायेम् ।

अत्र—

यद्यपि—

शुद्ध-तत्-तत्-द्रव्य-स्तव-व्यक्तिनाम्,
आज्ञा-ऽ-विशिष्टानां वा

न

भाव-स्तवत्त्वा-ऽ-वच्छिन्ने हेतुत्वम्,
व्यभिचारात्
अन-ऽनुगमाच्च,

नाऽपि

भाव-स्तव-कारणत्वेन
घट-कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरिव,
आत्मा-ऽऽश्रयात्,

तथाऽपि—

अ-प्रधान-व्यावृत्तेन—

द्रव्य-स्तवत्त्वेन—

अ-खण्डोपाधिना त [हेतु] त्वम् ,

गडुच्या-ऽऽदीनाम्—

ज्वर-हरण-शक्त्यैव,

शक्ति-विशेषणैव वा ।

विशेषण-द्वयं तु-

परिचायकम् ।

“उचिता-ऽ-प्रधानयोर्द्रव्य व्यवहार-भेदस्तु

द्रव्य-शब्दस्य नाना-ऽर्थत्वात् ।”

इति युक्तं पश्यामः * ॥३८॥

‡ आनुषङ्गिक-फल-मात्रा-ऽनौचित्यम् ।” इत्यऽनुशास्ति :—

भोगा-ऽऽइ-फल-विसेसो उ अत्थि एत्तो वि विसय-भेएणं ।
तुच्छो य तओ. जम्हा हवइ पगार-ऽंतरेणा ऽवि. ॥३९॥

॥ पञ्चा० ६-१५ ॥

भोगा ऽऽदि-फल-विशेषस्तु =

सांसारिक एव

अस्ति,

अतोऽपि = द्रव्य-स्तवात्

तुच्छस्तु-

असौ = भोगाऽऽदि-फल-विशेषः .

यस्मात्—

विषय-भेदेन = वीतराग-विषय-

विशेषेण

[स्तूयमान-विशेषेण]

प्रकारा-ऽन्तरेणाऽपि = अ-क्राम-

निर्जरा-ऽऽदीनाऽपि

भवति ॥३९॥

‡ “उचिता-ऽनुष्ठानत्त्वे को विशेषो भाव-स्तवात् ?” इति,

‡ अत्राऽऽह, :—

उचिया-ऽणुट्टाणाओ विचित्त-जइ-जोग-तुल्लमो एस.।

जं ता कह दव्व-थवो ? तद्-दारेण ऽप्प-भावाओ ॥४०॥

पञ्चा० ६-१६ ॥

‡ उचिता-ऽनुष्ठानात् = कारणात्
विचित्र-यति-योग-तुल्य एव
एषः = [विहितत्वात्] ।

यद् = यस्मात्,

तत् = तस्मात्

कथम्

द्रव्य-स्तवः = एव अस्ति ?

[भाव-स्तव एवाऽस्तु ।]

‡ अत्रोत्तरम्, :—

तद्-द्वारेण = द्रव्य-द्वारेण

अल्प-भावात् = स्तोक-भावोप-

पत्तेः ॥ ४० ॥

“अधिकारि-विशेषात्-

अत्र-

अल्प-भावः” इत्याऽऽह, :—

जिण-भवणा-ऽऽइ-विहाण-दारेणं एस होइ सुह-जोगो ।

उचिया-ऽणुट्टाणं वि य तुच्छो जइ-जोगओ णवरं, ॥४१॥

पञ्चा० ६-१७॥

जिन-भवना-ऽऽदि-विधान-द्वारेण =

द्रव्या-ऽनुष्ठान-लक्षणेन

एषः

भवति

शुभ-योगः = शुभ-व्यापारः ।

ततश्च-

उचिता-ऽनुष्ठानमऽपि च = सद्,

एषः

तुच्छः

यति-योगतः = सकाशात् ।

नवरम् ,

‡ “मलिना-ऽऽरम्भ-ऽधिकारिक-शुभ-योगत्वेन—

यति-योगाद्-

अल्पत्वम् ,

तुल्यत्वं च

प्रायः साधम्येण ।” इति-भावः ॥४१॥

‡ तथा चाऽऽह, :—

सर्व्वत्थ णिरऽभिसंगत्तणेण जइ-जोगमो महं होइ ।
एसो उ अभिसंगा कत्थइ तुच्छे वि तुच्छो उ ॥ ४२ ॥

॥ पञ्चा० ६-१८ ॥

† सर्व्वत्र-

निरऽभिष्वङ्गत्वेन=हेतुना

एष तु = द्रव्य-स्तवः

अभिष्वङ्गात्=कारणात्

कथंचित्—

यति-योग एव

महान्

भवति=अतः सकाशात् ।

तुच्छेऽपि-वस्तुनि

तुच्छ एव ॥ ४२ ॥

जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसहे णियमओ चेव ।
तद्-दूसियस्स जोगो विस-घारिय-जोग-तुल्लो उ ॥ ४३ ॥

यस्मात्तु,

अभिष्वङ्गः=प्रकृत्यैव

जीवम्—

तथा = दूषितस्य

जोगः=सर्व एव

दूषयति

नियमत एव=तथा-ऽनुभूतेः ।

तत्त्वतः—

विष-घारित-योग-तुल्यः=अ-शुद्धः,

इति ॥ ४३ ॥

जइणो अ-दूसियस्स हेयाओ सर्व्वहा णियत्तस्स ।
सुद्धो अ उवादेए, अ-कलंको सर्व्वहा सो उ ॥ ४४ ॥

॥ पञ्चा० ६ २० ॥

यतेः

अ-दूषितस्य=सामायिक-भावेन

हेयात्

सर्व्वथा

निवृत्तस्य=तत्-स्व-भावतया

शुद्धश्च

उपादेये=वस्तुनि आज्ञा प्रवृत्त्या,

अतः --

अ-कलङ्कः

सर्वथा

[सः]

एव=यति-योगः ।

‡ “शुभ योग-सामान्य-जन्यता-ऽवच्छेदक-फल-वृत्ति-जाति-व्याप्य-जात्य-
ऽवच्छिन्नं प्रत्येव

सा-ऽभिष्वङ्ग-निर-ऽभिष्वङ्ग-शुभ योगानां

हेतुत्वात्—

एतदुपपत्तिः ।” इति-न्याय-मार्गः ॥ ४४ ॥,

‡ [अनयोरेव] उदा-ऽऽहरणेन—

उक्त-स्वरूप-व्यक्तिमाऽऽह :—

अ-सुह-तरंडुत्तरण-प्पाओ दव्व-त्थओ ऽ-समत्थो य ।

इयरो पुण णईमा-ऽऽइसु समत्थ[त्त]-बाहूत्तरण-कप्पो ॥४५॥

॥ पञ्चा० ६-२१ ॥

‡ अ-शुभ-तरण्डोत्तरण-प्रायः=

कण्टका-ऽनुगत-शाल्मली-तरण्डोत्तरण-
तुल्यः

नद्या-ऽऽदिषु = स्थानेषु

इतरः पुनः = भाव-स्तवः

द्रव्य-स्तवः = सा-ऽपायत्त्वात्

अ-समर्थश्च,

तत एव = [सिद्धय-ऽ-सिद्धेः] ।

समर्थ[स्त]-बाहूत्तरण-कल्पः = तत

एव मुक्तेः ॥४५॥

कडुओ[अ-ओ] सहा-ऽऽइ-जोगा मंथर-रोग-सम-सण्णिहो वा वि।

पढमो विणोसहेणं तक्खय-तुल्लो य बीओ ॥ ४६ ॥

॥ पञ्चा० ६-२२ ॥

‡ कटुकौषधा-ऽऽदि-योगात्

मन्थर-रोग-शम-सन्नि भो

वाऽपि=विलम्बित-रोगोपशम-

तुल्यो वाऽपि

प्रथमः-द्रव्य-स्तवः ।

विनौषधेन=स्वत एव

तत्-क्षय-तुल्यश्च = रोग-क्षय-कल्पश्च

द्वितीयः-भाव-स्तवः ।

इति ॥ ४६ ॥

अनयोः फलमाऽऽह, :—

पढमाउ कुशल-बंधो, तस्स विवागेण सु-गईमा-ऽऽईया ।

तत्तो परंपराए बिईओ वि हु होइ कालेणं ॥ ४७ ॥

पठ्चा० ६-२३ ॥

प्रथमात्=द्रव्य-स्तवात्

तस्य=कुशल-बन्धस्य

विपाकेन=हेतुना

ततः = द्रव्य-स्तवात्

परम्परया

द्वितीयोऽपि=भाव-स्तवोऽपि

विशेषतः—

इदमेवाऽऽह, :—

जिण-बिंब-पइट्टावण-भाव-ऽज्जिय-कम्म-परिणइ-वसेणं ।

सु-गइअ पइ-ट्टावणमऽण-ऽहं सइ अप्पणो जम्हा ॥४८॥

पठ्चा० ७ ४५ ॥

जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठापन-भावा ऽजित-

कर्म-परिणति-घशेन=स्वेतर स-कल-

कारण-मेलन-सामर्थ्येन

सु-गतौ

प्रतिष्ठापनम्

अन-ऽघम्

सदा

आत्मनः,

यस्मात्=कारणात् । ४८॥

तथा च—

आह, :—

तत्य-ऽवि य साहु-दंसण-भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ गुण-रागो ।
काले य साहु-दंसणं जह-क्कमेण गुण-करं तु ॥ ४९ ॥

॥ पञ्चा० ७-४६ ॥

तत्राऽपि च = सु-गतौ
साधु-दर्शन-भावा-ऽर्जित-कर्म-
णस्तु = सकाशात्

काले च-
साधु-दर्शनम् = जायते,

गुण-रागः = भवति ।

यथा-क्रमेण-
गुण-करं तु

तत एव ॥४९॥

“पडिबुज्झिस्संतऽण्णे”भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ पडिवत्ती ।
भाव-चरणस्स जायइ. एअं चिय संजमो सुद्धो ॥५०॥

पञ्चा० ७-४७ ॥

“प्रतिभोत्स्यन्ते
अन्ये = प्राणिनः, इति”
भावा-ऽर्जित-कर्मणस्तु = सकाशात्
प्रतिपत्तिः
भाव-चरणस्य = मोक्षक-हेतोः
उप-जायते ।

तद्,
एतदेव = भाव-चरणम्
संयमः
शुद्धः ।
इति ॥ ५० ॥

भाव-त्थओ अ एसो थोअव्वोचिय-प्पवत्तिओ णेओ ।
णिर-ऽवैक्खा-ऽऽणा-करणं कय-किच्चे हंदि उचियं तु ॥५१॥

भाव-स्तवश्च
एषः = शुद्ध-संयमः
तथा हि—

स्तोतव्योचित-प्रवृत्तेः = कारणात्
ज्ञेयः [विज्ञेयः] ।

निर-ऽपेक्षा-ऽऽज्ञा-करणमेव
कृत-कृत्ये = स्तोतव्ये

हन्दि
उचितम्,—नाऽन्यत्, निर-ऽ
पेक्षत्वात् ॥ ५१ ॥

एअं च भाव-साहुं[हू]विहाय, नऽणो चएइ काउंजं [जे]।
सम्मं तग्गुण-नाणा-ऽभावा तह कम्म-दोसा य. ॥५२॥

पञ्चा० ६-२५ ॥

एतच्च = एवम्-आज्ञा-करणम्
भाव-साधुम्
विहाय = त्यक्त्वा,
सस्यग्

नाऽन्यः = क्षुद्रः
शक्नोति
कर्तुम्,
तद्-गुण-ज्ञाना-ऽभावात्,

इत्थम्—

आज्ञा-करण-गुण-ज्ञाना-ऽभावात्,
करणस्याऽपि—
रत्न-परीक्षा-न्यायेन,
बुद्ध्युपायत्वात् ।

तथा,

कर्म-दोषाच्च = चारित्र-मोहनीय-
कर्मा-ऽपराधाच्च ॥ ५२ ॥

दुष्करत्वे कारणमाऽऽह, :—

जं एअं अट्ठा-रस-सील-ऽंग-सहस्स-पालणं णेयं ।

अच्च-ऽत-भाव-सारं ताइं पुण हुंति एओइं, ॥५३॥

यद् = यस्मात्,
एतद् - अधिकृता-ऽऽज्ञा-करणम्

अष्टा-दश-शीला-ऽङ्ग-पालनम्
ज्ञेयम्
अत्य-ऽन्त-भाव-सारम् ।

तानि पुनः = शीला-ऽङ्गानि
भवन्ति

एतानि = वक्ष्यमाण-
लक्षणानि ॥ ५३ ॥

जोए करणे सण्णा इंदिय-भोमा-ऽऽइ समण-धम्ममेय ।
सील-ऽंग-सहस्साणं अट्टा-रसगस्स णिप्फत्ती ॥ ५४ ॥

पञ्चा० १४-३ ॥

योगाः = मनो-व्यापारा-ऽऽदयः,
करणानि = मनः-प्रभृतीनि,
संज्ञाः = आहारा-ऽभिलाषा-ऽऽद्याः,
इन्द्रियाणि-स्पर्शना-ऽऽदीनि,
अस्मात् कदम्बकात्-
शीला-ऽङ्ग-सहस्राणाम् =
चारित्र-हेतु-भेदानाम्

भूम्याऽऽदयः = पृथ्व्य-ऽप्-तेजो-वायु-
वनस्पति द्वि त्रि चतुः-पञ्चे-
न्द्रिया-ऽ-जीवाः,
श्रमण-धर्मश्च = क्षान्त्या-ऽऽदयः ।
अष्टा-दशकस्य
निष्पत्तिः = भवति ।

[व्यासा-ऽर्थत्वाऽऽह], :- इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ५४ ॥

करणा-ऽऽइ, तिण्णि जोगा मणमां-ऽऽईणि उ हुंति, करणाइं ।
आहारा-ऽऽई सण्णा, सवणा[सोत्ता]ऽऽइ इंदिया पञ्च, ॥५५
भोमाऽऽइ णव, अ-जीव-काओ अ पुत्थ-पणगं च, ।
खंता-ऽऽइ-समण-धम्मो. एवं सइ भावणा एसा. :- ॥५६ ॥

पञ्चा० १४-१५ ॥

स्पष्टे ॥ ५५-५६ ॥

[करणा-ऽऽदयः = कृत-कारिता-ऽनु-
मति-रूपाः,
प्रयो योगाः = प्रति-करणम्,
मनः-आदीनि=मनः-आदीनि तु भवन्ति
करणानि मनो-वाक्-काय-रूपाणि
त्रीण्येव,
आहारा-ऽऽदि-संज्ञाः = चतस्रः,
आहार-भय-मंथुन-परिग्रह-विषयाः

श्रोत्रा-ऽऽदीनि = पश्चा-ऽनु-पूर्व्या
इन्द्रियाणि पञ्चः = स्पर्शन-रसन-घ्राण
चक्षुः-श्रोत्राणि,
“उत्तरोत्तर-गुणा-ऽवसि-साध्यानि
शीला-ऽङ्गानि” इति ज्ञापना-ऽर्थम्-
इन्द्रियेषु पश्चा-ऽनुपूर्वी ।”
इति-गाथा ऽर्थः ॥५५॥

भ मा ऽइ णव जीवा, अजीव-क्राओ य, समण-धम्मो उ ।
खंता ऽऽइ दस-पगारो एवं ठीए भावणा एसो, :-॥५६॥

भौम्या-ऽऽदयः

नव-जीवाः = पृथ्व्य-ऽप्-तेजो-

वायु-वनस्पति-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-
चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाः,

अ-जीव-कायश्च = पुस्तक-चर्म-तृण-
सुषिर-पञ्चक-रूपः,

एवम्—

स्थिते = यन्त्रे सति,

तत्र—

श्रमण-धर्मस्तु

क्षान्त्या-ऽऽदयः

दश-प्रकारः-क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जव-

मुक्ति-तपः- संयम-सत्य-शौचा-ऽऽ

किञ्चन्य-ब्रह्म-चर्य-रूपः ।

भावना

एषा, :-वक्ष्यमाणा, :-

शीला-ऽङ्ग-निष्पत्ति-विषया ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ५६ ॥]

भावनामेवाऽऽह, :-

ण करेइ मणेणा ऽऽहार-सण्णा-विप्यजढगो उ णियमेणं ।

सोइंदिय-संबुडो पुढवी-काय-आरंभं खंति जुओ. ॥५७॥

पञ्चा० १४-१६ ॥

न करोति

मनसा

[“किं-भूतः सन् ?”]

आहार-संज्ञो-विप्रमुक्तस्तु

नियमेन,

[तथा-]

श्रोत्रेन्द्रिय-संवृत्तः

[“किम् ?” इत्याऽऽह, :-]

पृथ्वी-काया-ऽऽरम्भम्

क्षान्त्या-ऽऽदि-युक्तः ॥ ५७ ॥

इय मद्दवा-ऽऽइ-जोगा पुहवी-काये हवंति दस भेयो ।

आउ-काया-ऽऽईसु वि. इय एए पिंडियं तु सयं. ॥५८॥

पञ्चा० १४-७ ॥

एवम्—

मार्दवा-ऽऽदि योगात् = “मार्दव-
युक्तः।” “आर्जव युक्तः” इति-श्रुत्या,

अप्-काया-ऽदिष्वऽपि-

एते = सर्व एव

पिण्डितं तु

पृथ्वी-काये

भवन्ति

दश-भेदाः

यतः, दश क्षान्त्या-ऽऽदि-पदानि ।

एवम् = प्रत्येकं दशैव ।

शतम्—

यतः-दश पृथ्व्या-ऽऽदयः ॥५८॥

सो इंदियेण एअं, सेसेहिं वि जं इमं, तओ पञ्च ।

आहार-सण्ण-जोगा इय, सेसाहिं, सहस्स-दुगं ॥५९॥

पञ्चा० १४-८ ॥

श्रोत्रेन्द्रियेण

एतद् = लब्धम्

ततः =

आहार-संज्ञा-योगात्-

एवम्—

सहस्र-द्वयम् = निर-स्वशेषम्,

शेषैरऽपि = इन्द्रियैः

यत्

इदम् = शतमेव लभ्यते ।

पञ्च = शतानि, पञ्चत्वादिन्द्रियाणाम् ।

एतानि = पञ्च ।

शेषाभि [रऽपि] = [भय-संज्ञा-ऽऽ-
द्याभिः,] पञ्च पञ्च ।

यतः, चतस्रः संज्ञाः, इति, ॥५९॥

एअं मणेणं वयमा-ऽऽइएसु, एअं ति, छस्सहस्साइं ।

ण करणं, सेसेहिं पि य, एए, सव्वेवि अट्टारा. ॥६०॥

पञ्चा० १४-९ ॥

एतद्—

वागा-ऽऽदिना

इति—

मनसा = सहस्र-द्वयं लब्धम् ।

एतत् = सहस्र-द्वयम् ।

षट्-सहस्राणि = “त्रीणि करणानि”
इति [कृत्वा] ।

“न करोति,” = इत्य-ऽनेन योगेन एतानि ।

शेषेणाऽपि च = योगेन

एतानि
सर्वाणि

एतानि = षट् [षट्] इति ।

अष्टादश = [भवन्ति]

“त्रीणि योगाः” इति कृत्वा ॥६०॥

इत्थ इमं विण्णेयं अ इदं-पज्जं तु बुद्धिमंते ह, ।

‘एकम्मि वि सु-परिसुद्धं शील-ऽंगं सेस-सब्-भावे ॥६१॥

पञ्चा० १४-१० ॥

अत्र = शीलाऽङ्गा-ऽधिकारे
इदम्-
विज्ञेयम्

यदुत, :—

“एकमऽपि

सु-परिशुद्धम् यथा-रूपात्तम्

[“यादृक्-शीला-ऽङ्गमुच्यते,
तादृक्” इत्य-ऽर्थः ।]

ऐदम्पर्यम् = भावाऽर्थ-गर्भ-रूपम्
बुद्धिमद्भिः = पुरुषैः, :—

शीलाऽङ्गम् = शेष-शीला-ऽङ्गम्
शेष-सद्-[तद्-ऽपर-शीला-ऽङ्ग-]

भावे = [एव]

नियतं भवति ॥६१॥

तत्र—

निदर्शनमाऽऽह, :—

इक्को वाऽऽय-पएसो अ संखेअ-पएस-संगओ जहउ, ।

एअंपि तहा णेयं, स-तत्त-चाआ इयरहो उ. ॥६२॥

पञ्चा० १४-११ ॥

एकोऽपि—

आत्म-प्रदेशः = अत्य-ऽन्त-सूक्ष्म-रूपः

अ-सङ्ख्येय-प्रदेश-सङ्गतः = तद-

ऽन्या-ऽविना-भूतः

यथैव - केवलस्याऽ-संभवात्,

एवम्—

एतदऽपि = शीला-ऽङ्गम्

तथा = अन्या-ऽविना-भूतमेव

ज्ञेयम् ।

इतरथा तु = केवलत्वे

[आत्म-प्रदेशत्व-शीला-ऽङ्गत्वा-ऽभावः]

स्व-तत्त्व-त्यागः = आत्म-प्रदेश त्वमऽपि
न स्यात् ।

तद्वत्—

शीला-ऽङ्गत्वमऽपि च न स्यात्,

“समुदाय-नियतत्वात् समुदायिनः” इति ॥६२॥

एतदेव भावयति, :—

जम्हा समग्गमेयंपि सव्व-सा-ऽ-वज्ज-जोग-विरईओ ।

तत्तेणेग-स-रूवं ण खंड-रूवत्तणमुवेइ ॥ ६३ ॥

पञ्चा० १४-१३ ॥

यस्मात्

समग्रम्

एतद्-ऽपि = शीला-ऽङ्गम्-

सर्व-सा-ऽ-वद्य-योगात्-

विरतिरेव = अ-खण्ड त्वेन ।

[अ-खण्डा] [तत्त्वेन]

एक-स्व-रूपम् = वर्तने,

न

खण्ड-रूपत्वम्

उपैति ।

“अतः,

केवला-ङ्गा-ऽ-भावः” इति ॥६३॥

‡ नद्युत्तारा-ऽऽदौ-

प्रत्य-ऽक्षतः—

अ-खण्ड-रूप-बाधः ?” इति ।

अत्राऽऽह, :—

एअं च एत्थ एवं विरइ-भावं पडुच्च दट्टुवं, :— ।

ण उ बज्झंपि पवित्तिं, जं सा भावं विना वि भवे ॥६४॥

पञ्चा० १४-१३ ॥

‡ एतच्च = शीलम्
अत्र
एवम् = सर्व-सा-ऽवद्य- [योग]-
निवृत्त्या-ऽऽत्मकम्

न तु
बाह्यामऽपि
यत्
सा = बाह्या प्रवृत्तिः

विरति-भावम् = आन्तरम्
प्रतीत्य
द्रष्टव्यम् ,

प्रवृत्तिम् = प्रतीत्य,
भावं विनाऽपि
भवेत् ।

‡ तथा च—
नद्युत्तारा-ऽऽदौ-
“द्रव्यतः

अप्-काया-ऽऽरम्भ-संभवेऽपि-
प्रमादा-ऽ-भावात्
न भावतः सः”

इति न शीला-ऽङ्ग-भङ्गः” ॥ ६४ ॥

‡ तदाऽऽह, :—

जह उस्सग्गम्मि ठिओ खित्तो उदग्गम्मि केण वि तवस्सी, ।
तव्वह-पवित्त-कायो अ-चलिअ-भावो-ऽ-पवत्तओ अ. ॥ ६५ ॥

पठचा० १४-१४ ॥

यथा,
उत्सर्गो = कायोत्सर्गो
स्थितः
क्षिप्तः

सः—
उदक-वध-प्रवृत्त-कायोऽपि = [तस्य
क्षारतया] महा-ऽऽत्मा

उदके
केनचित्
तपस्वो = मोहात्,

अ-चलित-भावः
अ-प्रवृत्तः
एष = माध्य-स्थ्यात् ।

‡ “बुद्धि-पूर्वक-प्रवृत्तेरेव प्रवृत्तित्वात्,
आध्या-ऽऽत्मिक-निवृत्तो—
बाह्य-प्रवृत्तेरऽ-विरोधित्वाच्च ।”

‡ “यत्तु—

“तत्र—

मध्य-स्थस्य योगो न हेतुः,

किन्तु—

वध्यस्यैव ।” इति-वृषोदन्वतो मतम्,

तत् तुच्छम्, अति प्रसङ्गात् ।

“एगया गुण-समियस्स रीयओ काय-संफास-सम-ऽणु-चिण्णा एगतिया पाणा
उहायंति” त्ति-(श्री-आचारा-ऽङ्ग सू० १५८) इति आगम-विरोधाच्च,
योगवतः काय-संस्पर्शस्यैक-काय-व्यापारत्वात् ।” इति-अन्यत्र विस्तरः ॥६५॥

‡ अ-बुद्धि-पूर्व-प्रवृत्ति-दृष्टा-ऽन्ते,—

बुद्धि-पूर्व-प्रवृत्ति-स्थलेऽपि—

माध्य-स्थ-हेत्वैक्येन योजयति, :—

[वाष्टा-ऽन्तिक-योजनामाऽऽह, :—]

एवंचिय मज्झ-त्थो आणाइ उ कत्थइ पयट्ठंतो ।

सेह-गिलाणा-ऽऽइ-ऽट्ठा, अ-पवत्तो चेव णायव्वां ॥६६॥

पञ्चा० १४-१५ ॥

एवमेव

मध्य-स्थः = सत्

आज्ञातः

क्वचित्

प्रवर्तमानः = वस्तुनि

शैक्ष-[शिक्षक] ग्लाना-ऽऽद्य-ऽर्थम् =

पुष्टा-ऽऽलम्बनतः [आलम्बनात्],

अ-प्रवृत्तः

एव

ज्ञातव्यः=[तत्त्वतः] ।

“ज्ञाना-ऽऽद्य-ऽर्थ-प्रवृत्तावाऽऽभवस्याऽपि

परिभवत्वात्” इति ॥ ६६ ॥

आणा-पर-तंतो सो, सा पुण सव्व-ण्णु-वयणओ चेव ।
एग-ऽत-हिया विज्जग-णाएणं सव्व-जीवाणं ॥ ६७ ॥

पञ्चा० १४-१६ ॥

‡ आज्ञा पर-तन्त्रः

सा पुनः

एका-ऽन्त-हिता = वतंते

हितमेतदऽपि—

सर्वं जीवानाम् = दृष्टा-ऽ दृष्टोपकारात्, इति ॥ ६७ ॥

असौ = प्रवर्तकः ।

सर्व-ज्ञ-वचनत एव = आत्मा ।

वैद्यक-ज्ञातेन,

भावं विणा वि एवं होइ पवित्ती. ण बाहए एसा ।

सव्वत्थ अणा-ऽभिसंगा वि-रइ-भावं सु-साहूस्स. ॥ ६८ ॥

पञ्चा० १४-१७ ॥

‡ भावम् = विरुद्ध-भावम्

विनाऽपि

एवम् = [उक्तवत्]

‡ न

बाधते = च

एषा

सर्वत्र

भवति

प्रवृत्तिः = क्वचित्.

अन-ऽभिषङ्गात् = कारणात्

विरति-भावम्

सु-साधोः ।

“उपेयोपायेच्छा-व्यतिरिक्त-भावस्यैव अभिषङ्गत्वात्,

निर-ऽभिषङ्ग-कर्मणश्च

अ-बाधकरत्वात्” इति-भावः ॥ ६८ ॥

उस्सुत्ता पुण बाहइ स-मइ-विगप्प-सुद्धा वि णियमेणं. ।

गीय-णिसिद्ध-पवज्जण-रूवा णवरं णिरऽ-णुबंधा. ॥ ६९ ॥

पञ्चा० १४-१८ ॥

‡ उत्सूत्रा पुनः = प्रवृत्तिः
बाधते = विरति-भावम्,

स्व-मति-विकल्प-शुद्धा-ऽपि =
तत्त्वतोऽ शुद्धत्वात्
(नियमेन),

“सुंदर-बुद्धीए कयं बहुयं पि, न सुंदरं होइ. ।”
इति-वचनात् । (उपदेशमालो)

‡ गीत [ता-ऽर्थ]-निषिद्ध-
(प्रवर्जन)प्रतिपत्ति-रूपा=
गीता-ऽर्थेन निषिद्धे सति
प्रतिपत्तिः-अ-करणा-ऽभ्युपगमः,
तया रूप्यते या, सा,

नवरम्,
प्रवृत्तिः
निर-ऽभि-निवेशात् हेतोः
निर-ऽनुबन्धा=अनुबन्ध-कर्म-रहिता
भवति ।

अ-पुनः करणात्,
प्रज्ञापनीय-प्रकृतित्वाच्च” ॥ ६९ ॥

इअरहा उ, अभिणिवेसा इयरा, ण य मूल-छिज्ज-विरहेण. ।
होएसा एत्तोच्चिय पुव्वा-ऽऽयरिया इमं चाऽऽहु, :- ॥७०॥
पठचा० १४-१९ ॥

‡ इतरथा तु = गीता-ऽर्थ-निषिद्धा-
ऽ-प्रतिपत्ति रूपा प्रवृत्तिः,
न च
मूल छेथ-विरहेण=“चारिजा-ऽ भाव-
मऽन्तरेण” इत्य-ऽर्थः

अभिनिवेशात्=मिथ्या-ऽभि-निवेशेन
इतरा=सा-ऽनुबन्धा ।

भधति
एषा=सा-ऽनुबन्धा प्रवृत्तिः ।

अत एव-कारणात्
पूर्वा-ऽऽचार्याः=[भद्र-बाहु-प्रभृतयः]

इदम्—
आहुः-वक्ष्यमाणम्, :- ॥७०॥

“गीअ-ऽस्थो य विहारो, बीओ गीअ-ऽस्थ-मी(नि)सिओ भणिओ. ।
इत्तो तइय-विहारो णा-ऽणुण्णाओ जिण-वरेहिं. ॥ ७१ ॥

॥ पठचा० १४-२० ॥

“गीता-सर्थश्च-

द्वितीयः

गीता-सर्थ-मि(नि)श्रितः

अतः = विहार-द्वयात्

तृतीय-विहारः=साधु-विहरण-रूपः

विहारः = तद्-S-भेदोपचारात्-एकः ।

मणितः=विहार एव ।

न

अनुज्ञातः

जिन-वरैः=मगवद्भिः ।” ॥७१॥

‡ अस्य भावा-सर्थमाऽऽह, :—

गीअस्स णो उस्सुत्तो. तज्जुत्तस्सेयरस्स वि तहेव. ।

णियमेण चरणवं, जं, न जाउ आणं विलंघेइ. ॥७२॥

पञ्चा० १४-२१ ॥

गीता-सर्थस्य

न

तद्-युक्तस्य=गीता-सर्थ-युक्तस्य

इतरस्याऽपि=अ-गीता-सर्थस्य

“कुतः ?”

नियमेन=अवश्यं-भावेन

चरणवान् ,

यद् = यस्मात्-कारणात्,

उत्सूत्रा=प्रवृत्तिः,

तथैव=“नोत्सूत्रा” इत्य-सर्थः ।

न जातु=न कदाचिदपि

आज्ञाम्

उल्लङ्घयति = उत्क्रामति ।

“अ-ज्ञान-प्रमादा-S-भावात्” इत्य-सर्थः ॥७२॥

ण य गीअ-ऽत्थोऽणं ण णिवारेइ जोग्गयं सुणेऊणं. ।

एवं दोण्हं वि चरणं परिसुद्धं, अण्णहा णेव. ॥७३॥

पञ्चा० १४-२२ ॥

‡ न च

गीताऽर्थः = सत्

अन्यम्-अ-गीता-ऽर्थम्

एवम्—

द्वयोरऽपि—

अन्यथा

न

निवारयति = अ-हित-प्रवृत्तम्

योग्यताम्

मत्त्वा = निवारणीयस्य ।

चरणम्-गीता-ऽर्था-ऽ-गीताऽर्थयोः

परिशुद्धम्=वारण-प्रतिपत्तिभ्याम्,

नैव = उभयोरपि ॥७३॥

ता, एवं विरइ-भावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो ।

णियमेणं अट्टा-रस-शील-ऽङ्ग-सहस्स-रूवो उ. ॥७४॥

॥ पञ्चा० १४-२३ ॥

‡ तत् = तस्मात् ,

एवम्=उक्तवद्

विरति-भावः

संपूर्णः = समग्रः

अत्र = व्यतिकरे

भषति

ज्ञातव्यः = इति

णियमेणं = अवश्यतया

अष्टा दश-शीला-ऽङ्ग-सहस्र-रूप एव

“सर्वत्र पाप-विरतेरेकत्वात्” इति भावः ॥७४॥

उणत्तं ण क्याइ वि इमाणं, संखं इमं तु अहिगिच्च, ।

जं, एय-धरा सुत्ते णिदिट्ठा वंदणिज्जा उ. ॥ ७५ ॥

पञ्चा० १४-२४ ॥

‡ उन्नत्वम्

न

सङ्ख्याम् = एव

। एताम्

कदाचिदऽपि

एतेषाम्-[शीला-ऽङ्गानाम्],

अधिकृत्य = आश्रित्य,

यत् = यस्मात्,
एतद्-धराः-अष्टा-दश-शीला-ऽङ्ग-
सहस्र-धारिणः

सूत्रे = प्रतिक्रमणा-ऽऽख्ये
निर्दिष्टाः
बन्दनीयाः = नाऽन्ये ।

“अष्टा-रस-सहस्र-शील-ऽङ्ग-धरा

[अष्टा-रस-शील-ऽङ्ग-सहस्र-धारा]”

इत्या ऽऽदि-वचनात् । [भावश्यक-सूत्रे]

‡ इदं तु-बोध्यम्—

यत्-किञ्चिदेका-ऽऽद्युत्तर-गुण-हीनत्वेऽपि—

मूल-गुण-स्थेयेण—

धारिणवतां योग्यतया—

शीला-ऽङ्ग-सङ्ख्या-पूरणीया,

प्रतिज्ञा-कालीन-संयम-स्थाना-ऽन्य-संयम-स्थानानां-

षट्-स्थान-पतितानां च

उक्तवदेव

तुल्यत्वोपपत्तेः,

“संजम-ट्टाण-ठियाणं किइ कम्मं

बाहिराण भइयत्वं.”

इत्या-ऽऽद्युपपत्तेश्च ।”

इत्थ-ऽधिकमऽस्मत्-कृत-गुरु-तत्त्व-विनिश्चये ।

“उत्सर्ग-विषयो वाऽयम्” ॥ ७५ ॥

‡ तदाऽऽह, :—

ता, संसार-विरत्तो अण-ऽंत-मरणा-ऽऽइ-रूपमेअं तु ।

णाऊं एअ-विउत्तं मोक्खं च गुरुवएसेणं. ॥ ७६ ॥

पञ्चा० १४-२५ ॥

‡ यतः,

बुष्करमेतच्छीलं संपूर्णम्—

तत् = तस्मात्,

संसारत् विरक्तः = सन्

(१) अन-ऽन्त-मरणा-ऽऽदि-

(२) एतद्-वियुक्तम् = मरणा-ऽऽदि-
वियुक्तम्,

रूपम् = "आदिना-जन्म-जरा-ऽऽदि-ग्रहः"

एतमेव = संसारम्

ज्ञात्वा,

मोक्षं च = ज्ञात्वा

गुरूपदेन = शास्त्रा-ऽनुसारेण ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ७६ ॥

(तस्मात्, संसार-विरक्तोऽन-ऽन्त-मरणाऽऽदि-रूपमेतम्, एतद्-वियुक्तं च मोक्षं
गुरूपदेशेन ज्ञात्वा, इत्य-ऽन्वयः ।- संपादकः।)

परम-गुरुणो आर्णं [० णो अ अण-ऽहे] आणाए गुणे, तहेव दोसे य, ।

मोक्ख-ऽत्थी पडिवज्जिअ भावेण इमं विसुद्धेणं, ॥ ७७ ॥

पञ्चा० १४-२६ ॥

(३) परम-गुरोश्च = भगवतः

आज्ञाम्,

(४) [अन-ऽघान्]

आज्ञायाः

गुणान् [ज्ञात्वा],

(५) तथैव—

दोषाँश्च = विराधनायाः,

(६) मोक्षा-ऽर्थी

संप्रतिपद्य च

भावेन

इदम् = शीलम्

विशुद्धेन ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ७७ ॥

विहिया-ऽणुट्टाण-परो, सत्त-ऽणुरूवमियरं पि संधंतो, ।

अन्नत्थ अणुवओंगा खवयंतो कम्म दोसऽवि, ॥ ७८ ॥

पञ्चा० १४-२७ ॥

(७) विहिता-ऽनुष्ठान-परः

(८) शक्त्य-ऽनुरूपम् = यथा-शक्ति

इतरदऽपि = अ-शक्यमऽपि [शक्त्य-ऽनुचितम्]

संधयन् = भाव-प्रतिपत्त्या,

- (९) अन्यत्र = विहिता-ऽनुष्ठानात्
 अनुपयोगात् = अ-शक्तेः [शक्ते]
 क्षपयन्
 कर्म-दोषान् = प्रतिबन्धकान्
 अपि ॥ ७८ ॥

सर्वत्र निर-ऽभिसंगो, आणा-मित्तम्मि सर्वहा जुत्तो, ।
 एग-ऽग्ग-मणो धणियं तम्मि, तहा-ऽ-मूढ-लक्खो य, ॥७९॥

पञ्चा० १४-२८ ॥

- (१०) सर्वत्र=वस्तुनि
 निर-ऽभिष्वङ्गः = मध्य-स्थः,
 (११) आज्ञा मात्रे = भगवतः
 सर्वथा
 युक्तः = “आराधनैक-निष्ठः” [“वचनैक-निष्ठः”] इत्यर्थः,
 (१२) एका-ऽग्र मनाः=अन्य विस्त्रोतसिका रहितः
 (धणियं) = [अत्य-ऽर्थं विस्त्रोतसिका-रहितः],
 तस्याम् = आज्ञायाम्
 तथा

(१३) अ-मूढ-लक्ष्यश्च = सत्, [सत्-प्रतिपत्त्या] ॥७९॥

तह, तेल्ल-पत्ति-धारग-णाय-गओ, राहा-वेह-गओ वा, ।

एअं चएइ काऊं, ण उ अण्णो खुद्द-चित्तो, त्ति. ॥८०॥

पञ्चा० १४-२९ ॥

तथा—

(१४) तेल-पात्रो-धारक-ज्ञात-गतः=अपाया-ऽवगमात्-
 अ-प्रमत्तः,

(१५) राधा-वेध-गतो वा,
 कथानके सु-प्रतीते ।
 [अत एव]

एतत्=शीलम्
शक्नोति
कर्तुम् = पालयितुम्,

न तु
अन्यः
क्षुद्र-चित्तः = [क्षुद्र-सत्त्वः] अन-ऽधि-
कारित्वात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥८०॥

‡ उपचयमाऽऽह, :—

एत्तोच्चिय णिदिट्ठो पुव्वा-ऽऽयरिण्हिं “भाव-साहु” त्ति।
हंदि पमाण-ट्ठिअ-ऽत्थो, तं च पमाणं इमं होइ, :- ॥८१॥

॥ पञ्चा० १४-३० ॥

अत एष=अस्य दुर-ऽनुचरत्वात्
कारणात्-
निदिष्टः = कथितः
पूर्वा-ऽऽचार्यैः=भद्र-बाहु-प्रभृतिभिः ।

“भाव-साधुः” = “पारमार्थिक-
यतिः” [इत्य-ऽर्थः]
“हंदि” = इत्युपदर्शने
प्रमाण-स्थिता-ऽर्थः = [प्रमाणेनेव]
ता-ऽन्यथा ।

तच्च—
प्रमाणम् = साधु-व्यवस्थापकम्

इदम्
भवति = वक्ष्यमाणम्, :- ॥८१॥

“सत्थुत्त-गुणो साहु, ण सेस,” “इइ णे[णो]पइण्ण.” इह हेऊ, :- ।

“अ-गुणत्ता” इति णेओ, दिट्ठ-ऽतो पुण, :- सु-वण्णं व (च) ॥८२॥

पञ्चाशक १४-३१ ॥

“शास्त्रोक्त-गुणवान्-
साधुः=[एवं-भूत एव],

न
शेषाः = शास्त्र-बाह्याः” ।

“इति

नो = अस्माकम्

प्रतीक्षा = पक्षः ।”

इह = “न शेषाः” इत्य-ऽत्र

“अ-गुणत्वात्,” इति

हेतुः = साधकः

विज्ञेयः=“तद्-गुण-रहितत्वात्” इत्य-ऽर्थः ।

दृष्टा-ऽन्तः

पुनः, :—

सु-वर्णम्

इव = "अत्र व्यतिरेकतः"

इत्य-ऽर्थः ॥ ८२ ॥

‡ सु-वर्ण-गुणानाऽऽह, :—

वेस-घोइ-रसा-ऽऽयण-मंगल-ऽ-त्थ-विणए पयाहिणा-ऽऽवत्ते, ।
गुरुए, अ-डङ्गो, अ-कुत्थे. अट्टु सु-वर्ण-गुणा हुंति. ॥८३॥

पञ्चा० १४-३२ ॥

विष-घाति = सु-वर्णम्,

तथा—

रसा-ऽऽयनम् = वयः-स्तम्भनम्,

मङ्गला-ऽर्थम् = मङ्गल-प्र-योजनम्,

विनीतम् = कटका ऽऽदि योग्यतया,

एवम्—

अष्टौ

सु-वर्ण-गुणाः

प्र-दक्षिणा-ऽऽवर्त्तम् = अग्नि-तप्तस्-

प्रकृत्या,

गुरु = सारतया

अ-दाह्यम् = सारतयैव

अ-कुथनीयम् = अत एव ।

भवन्ति = अ-साधारणाः ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ८३ ॥

दार्ष्टा-ऽन्तिकमऽधिकृत्याऽऽह, :—

इह, मोह-विसं घायइ, -सिवोवएसा रसा-ऽऽयणं होइ. ।
गुणओ अ मंगल-ऽत्थं कुणइ, विणीओ अ "जोग्ग" ति, ॥ ४॥
मग्ग-ऽणुसारि पयाहिणं, गंभीरो गुरुअओ तहा होइ. ।
कोह-ऽग्गिणा अ-डङ्गो, अ-कुत्थो सइ सील-भावेण. ॥८५॥

पञ्चा० १४-३३-३४ ॥

इह,-

मोह-विषं

घातयति = केषांचित् ।

शिवोपदेशात्

तथा-

रसा-ऽऽयनम्

भवति ।

अत एव-

परिणताद्-

मुख्य-गुणतश्च

मङ्गल-ऽर्थम्

कसेति ।

प्रकृत्या-

विनीतश्च = "योग्यः"

इति कृत्वा ॥ ८४ ॥

मार्गा ऽनुसारिता = सर्वत्र

प्रदक्षिणा-ऽऽवर्तता ।

गम्भीरश्च = चेतसा

गुरुः

तथा-

भवति ।

क्रोधा ऽग्निना

अ-दाह्यः = ज्ञेयः ।

अ-कुथनीयः

सदा

उचितेन—

शील-भावेन ॥ ८५ ॥

एवं दिट्टु-ऽन्त-गुणा सज्जम्मि वि एत्थ होंति णायव्वा ।

ण हि साहम्मा-ऽ-भावे पायं जं होइ दिट्टु-ऽन्तो ॥ ८६ ॥

पञ्चा० १४-३५ ॥

‡ एवम्—

दृष्टा-ऽन्त-गुणाः = विष-घाति-

त्वा-ऽऽदयः

साध्येऽपि

न हि

साधर्म्या-ऽ-भावे = एका-ऽन्तत्वेनैव

प्रायः

अत्र=साधौ

भवन्ति

ज्ञातव्याः ।

यद्-यस्मात्

भवति

दृष्टा-ऽन्तः ॥ ८६ ॥

चउ-कारण-परिसुद्धं कस-छेअ-ताव-तालणाए अ. ।

जं, तं विस-घाइ-रसा-ऽऽयणा-ऽऽइ-गुण-संजुअं होइ ॥ ८७ ॥

इयरम्मि कसा-ऽऽइआः- विसिट्टु-लेसा, तहेग-सारत्तं ।
अवगारिणि अणुकपा, वसणे अइ-णिच्चलं चित्तं ॥८८॥

पञ्चा० १४-३६-३७ ॥

‡ चतुष्-कारण-परिशुद्धम् =

चैतद् भवति, :-

कषेण

छेदेन

तापेन

ताडनया = च, इति ।

यद्=एवं भूतम्,

तद्

विष-घाति-रसा-ऽऽयना-ऽऽदि-

गुणं संयुक्तम्

भवति=नाऽन्यत् ।

परीक्षेयम् ॥ ८७ ॥

इतरस्मिन् = साधो

कषा ऽऽदयः = यथा-सङ्घयमेते,

यदुत, :-

विशिष्टा-लेइयाः=कषः,

तथा-

एक-सारत्वम्-छेदः,

अपकारिणि

अनुकम्पा = तापः,

व्यसने-

अतिनिश्चलम्-

चित्तम् = ताडना ।

एषा परीक्षा ॥ ८८ ॥

तं कसिण-गुणोवेअं होइ सु-वण्णं, न सेसयं, जुत्तीं ।

ण वि णाम-रूव-मित्तेण, एवम-ऽ-गुणो हवइ साहू. ॥८९॥

पञ्चा० १४-३८ ॥

‡ तत्,

कृत्स्न-गुणोपेतम् = सत्

(भवति)

सु-वर्णम्-तात्त्विकम्,

न

शेषकम्,

“युक्तिः” इति=युक्ति-सु-वर्णम् ।

नाऽपि

नाम-रूप मात्रेण = बाह्वेन,

एवम्-

अ-गुणः=सत् [भावा-ऽपेक्षया]

भवति

साधुः ॥ ८९ ॥

जुत्तो-सु-वर्णयं पुण सु-वर्ण-वर्णं तु जइ वि कीरिज्जा ।
ण ह्णु होइ तं सु-वर्णं सेसेहिं गुणेहिं अ-संतेहिं ॥९०॥

पञ्चा० १४-३९ ॥

‡ युक्ति-सु-वर्णम्
पुनः = अ-तारिवकम्
सु-वर्ण-वर्णमेव
यद्य-ऽपि
क्रोयते=कथंचित्,
तथाऽपि-
न

भवति-
तत्
सु-वर्णम्
शेषैः
गुणैः-विष-धातित्वा-ऽऽदिभिः
भ-सद्भिः ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९० ॥

‡ प्रस्तुतमऽधिकृत्याऽऽह, :-

जे इह सुत्ते भणिया साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहु ।
वर्णणेणं जच्च-सु-वर्णयं व संते गुण-निहिम्मि ॥ ९१ ॥

पञ्चा० १४ ४० ॥

ये
इह
शास्त्रे
भणिताः

वर्णेन = सता
जात्य-सु-वर्णवत्

साधु-गुणाः=मूल-गुणाः [णा-ऽऽदयः],
तैः
भवति
असौ
साधुः ।

सति
गुण-निधौ = विष-धाति-
त्वा-ऽऽदि-रूपे ॥ ९१ ॥

जो साहू गुण-रहिओ भिक्खं हिंडइ, [ण होइ] कहं णु सो साहू ? ।
वण्णेणं जुत्ति-सु-वण्णयं वा ऽ-संते गुण-निहिम्मि ॥९२॥

पञ्चा० १४-४१ ॥

‡ घः

साधुः

गुण-रहितः = सन्

एतावता-

वर्णेन = सता केवलेन

युक्ति-सु-वर्णवत्

भिक्षामऽटति,

[न भवति] (कथं नु)

असौ

साधुः ? ।

अ-सति

गुण-निधौ = विष-घाति-त्वा-ऽऽदि-

गुण-रूपे ॥ ९२ ॥

उद्दिट्ठ-कडं भुंजइ, छ-क्काय-पमदणो, घरं कुणइ, ।

पच्चक्खं च जल-गए जो पिबइ, कहं णु सो [साहू?] भिक्खू साहू? ९३

पञ्चा० १४-४२ ॥

उद्दिश्य

कृतम्

भुङ्क्ते = आकुट्टिकया,

षट्-काय-प्रमर्दनः = निर-ऽपेक्षतया,

गृहं करोति = देव-गृह-व्याजेन

[देव-व्याजेन]

प्रत्य-ऽक्षं च

जल-गतान् = प्राणिनः

घः

पिबति = आकुट्टिकयेव,

कथम्

नु

असौ

भिक्षुः

साधुः = भवति ?

नेव ।

अण्णे उ कसा-ऽऽइआ किर एएऽत्थ हुंति णायव्वा ।
एयाहिं परिक्खाहिं साहु-परिक्खेह कायव्वा ॥ ९४ ॥

॥ पञ्चा० १४-४३ ॥

‡ अन्ये तु = आचार्याः
इत्थमऽभिदधति, :—
“कषा-ऽऽदयः = प्रागुक्ताः
किल
एते=उद्दिष्ट-भोक्तृत्वा ऽऽदयः
अत्र = साध्व-ऽधिकारे
भवन्ति—

ज्ञातव्याः—

[यथा-क्रमम्] ।

इदमुक्तं भवति, :-[किमुक्तं भवति ?]

एताभिः

परीक्षाभिः = निश्चय-प्रकारैः

[भाव-साराभिः]

साधु-परीक्षा

इह

कर्तव्या ।

‡ “समान-धर्म-दर्शन-जनित-साधुत्वा-ऽ-साधुत्व-संशय-निरासाय
सद्-वृत्तेन—

साधुत्व-संभावनया

अभ्युत्थानस्य कर्तव्यत्वेऽपि,

औत्तर-कालिकम्—

यथोचितं [यथोत्तर-] परीक्षयैव साध्यम् ”

इत्यस्य शास्त्रा-ऽर्थत्वात्, इति-दिग् ” ॥ ९४ ॥

‡ निगमयन्नाऽऽह, :-

तम्हा, जे इह सत्थे साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहु. ।

“अच्च-ऽ-त-सु-परिसुद्धेहिं मोक्ख-सिद्धि” त्ति काऊणं. ॥९५॥

पञ्चा० १४-४४ ॥

तस्मात्

ये

इह

शास्त्रे = भणिताः

साधु-गुणाः = प्रति-दिन-क्रिया-ऽऽदयः,

‘अप्य-ऽन्तम्-

सु-परिशुद्धैः = उपधा-शुद्धैः,

तैः = कारण-भूतैः

भवति

असौ-

साधुः = भाव-साधुः,

नाऽप्यथा ।

तेरऽपि,

न द्रव्य-मात्र-रूपैः

मोक्ष-सिद्धिः”

इति कृत्वा ।

“भावमऽन्तरेण तद-ऽनुपपत्तेः ।”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९५ ॥

‡ प्रकृत योजनामाऽऽह, :—

अलमित्थ पसंगेणं. एवं खलु होइ भाव-चरणं तु. ।

“पडिबुद्धिस्संत ऽण्णे” भाव-ऽज्जिय-कम्म-जोएणं. ॥९६॥

अलम्

अत्र

‡ एवम्

खलु.

‡ “कुतः ?” [इत्याऽह,] :—

“प्रतिभोत्स्यन्ते

अन्ये = प्राणिनः”

प्रसङ्गेन=प्रमाणा-ऽभिधाना-ऽऽदिना ।

भवति

भाव-चरणम् = उक्त-स्व-रूपम् ।

इति

भावा-ऽजित-कर्म-योगेन=जिना-
ऽऽयतन-विषयेण ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९६ ॥

अ-पडिवडिअ-सुह-चिंता-भाव-ऽज्जिय-कम्म-परिणइए उ. ।

एअस्स जाइ अंतं, तओ स आराहणं लहइ. ॥ ९७ ॥

‡ अ-प्रतिपत्तित-शुभ-चिन्ता-भावा-ऽर्जित-कर्म-परिणतेस्तु = सकाशात् ,

जिना-ऽऽयतन-विषया या [चिन्ता] ।

अन्तम्=पारम् ,

एतस्य=चरणस्य

याति-

ततः

आराधनाम् —

सः

लभते-शुद्धाम् ॥९७॥

णिच्छय-णया जमेसा चरण-पडिवत्ति-समयआभिइ ।

आ-मरण-ऽन्तमऽ(ज)स्सं संजमपडिपालणं विहिणा ॥९८॥

निश्चय-(नयात्) = मतात्

आ-मरणा-ऽन्तम्

यद्

अजस्रम् = (अन-ऽवरतम्)

एषा = आराधना

संयम-परिपालनम्-

चरण-प्रतिपत्ति-समयतः प्रभृति

विधिना ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९८ ॥

आराहगो य जीवो सत्त-ऽट्ट-भवेहिं सिज्झइ णियमा ।

संपाविऊण उ परमं हंदि अह-क्खाय-चात्तिं ॥९९॥

‡ आर तश्च

भवैः = जन्मभिः

जीवः — परमा-ऽर्थतः

सिध्यति

सत्ता-ऽष्टभिः

नियमात् ।

“कथम् ?”

संप्राप्य

हंदि

परमम् = प्रधानम्

यथा-ख्यातम्-

चारिभ्रम् = अ-कषायम्, इति ॥९९॥

दव्व-त्थय-भाव-त्थय-रूवं एअमिह होइ दट्टव्वं.

अण्णुण्ण-समणुविद्धं णिच्छयओ भणिय-विसयं तु ॥१००॥

पठ्चा० ६-२७ ॥

‡ द्रव्य-स्तव-भाव-स्तव-स्व-रूपम् =
तद-ऽन्यतरम्

एतद् = अन-ऽन्तरोक्तम्

अन्यो-ऽन्य-समनुविद्धम् = गुण-
प्रधाना-ऽन्यतर-प्रत्यासत्त्या मिथो-
व्याप्तम्

“एक-विषयाणाम्—

पुष्पा-ऽऽमीष-स्तुति-प्रतिपत्तीनांयथोत्तरं प्राधान्यम् ॥ १००॥”

इह

भवति

द्रष्टव्यम्, :—

मिश्रयतः

भणित-विषयमेव = अर्हद्-गो-
चरमेव ।

“जइणो वि हु दव्व-त्थय-भेओ अणुमोयणेण अत्थि”त्ति ।

एअं च इत्थ णेयं इय सि[सु]द्धं तंत-जुत्तीए. ॥१०१॥

पञ्चा० ६-२८ ॥

‡ “यतेरऽपि

द्रव्य-स्तव-भेदः=द्रव्य-स्तव-
लेशा-ऽनुबेधः

एतच्च—

अत्र

ज्ञेयम्=अनुमोदनम्

अनुमोदनेन

अस्त्येव ।”

एवम

शुद्धम्

तन्त्र-युक्त्या = वक्ष्य-

माणया, :— ॥१०१॥

तंतम्मि वंदणाए पूअण-सक्कार-हेऊ उस्सगो ।

जइणो वि हु णिदिट्ठो. ते पुण दव्व-त्थय-स-रूवे. ॥१०२॥

पञ्चा० ६-२९ ॥

‡ तन्त्रे=सिद्धान्ते

वन्दनायाम्

पूजन-सत्कार-हेतुः = “एतद-ऽर्थम्”

इत्य-ऽर्थः

उत्सर्गः = कायोत्सर्गः

यतेरऽपि

निर्दिष्टः ।

“पूअण-वत्तियाए

सक्कार-वत्तियाए” इति-वचनात् ।

तौ पुनः = पूजा-सत्कारौ

द्रव्य-स्तव-रूपौ = नान्य-स्व-रूपौ ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १०२ ॥

मल्ला-ऽऽइएहिं पूआ. सक्कारो पवर-वत्थमा-ऽऽईहिं ।

अण्णे—“विवज्जओ इह.” दुहा वि दव्व-त्थओ इत्थ. ॥ १०३ ॥

पञ्चा० ६-३० ॥

माल्या-ऽऽदिभिः

पूजा,

तथा—

‡ अन्ये

“विपर्ययः”

“वस्त्रा-ऽऽदिभिः पूजा,

माल्या-ऽऽदिभिः सत्-कारः” व्याचक्षते ।

‡ “सर्वथा

द्विधाऽपि = यथा तथाऽस्तु [अस्तु]

सत्र—

एव युक्त्य ऽन्तरमाऽऽह, :—

सत्-कारः

प्रवर-वस्त्रा-ऽलङ्कारा-ऽऽदिभिः ।

इह=वचने [प्रवचने]—”

द्रव्य-स्तवः

अत्र=अभिधेयः” इति ध्येयम् ॥ १०३

ओसरणे बलिमा-ऽऽई ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं ।

ता एस अणुण्णाओ उचिआणं गम्मइ तेण. ॥ १०४ ॥

पञ्चा० ६-३१ ॥

‡ समवसरणे

बल्या-ऽऽदि = द्रव्य-स्तवा-ऽङ्गम्,

न च

इह—

यद्—

भगवताऽपि = तीर्थ-करेणाऽपि

प्रतिषिद्धम् ।

‡ तद्

एषः = अत्र द्रव्य-स्तवः

अनुज्ञातः

तेन = तीर्थ-करेण

उचितेभ्यः = प्राणिभ्यः

गम्यते = चेष्टा-समान-शीलेन

मौनेन व्यञ्जकेन ॥१०४॥

न य भयवं अणुजाणइ जोगं सुख-वि-गुणं कयाचिदऽवि।
तय-ऽणुगुणो वि अ तओ ण बहु-मओ होइ अण्णंसिं ? ॥१०५॥

पञ्चा० ६-३२ ॥

न च

भगवान्

अनुजानाति

तद-ऽणुगुणोऽपि च

असौ = योगः

न

योगम् = व्यापारम्

मोक्ष-विगुणम्

कदाचिदऽपि = मोहा-ऽभावात् ।

बहु-मतः

भवति

अन्येषाम् ?

किन्तु, बहु-मत एव ।

“इति-अर्थतः—

सोऽपि द्रव्य स्तवः

अनुमति-क्रोडी-कृत्तो भवति ।” इति ॥ १०५ ॥

“भाब एव भगवतोऽनुमोद्यः, न द्रव्यम् ।” इत्या-ऽऽशङ्काम्—

सत्-कार्य-नयेन—

द्रव्ये—

भाव-सत्ता-ऽभ्युपगमनेन—

निरस्यन्नाऽऽह, :—

“जो चव भाव-लेसो, सो चव य भगवओ बहु-मओ उ. ।
णतओ विणेयरेणं. ति,” अत्थओ सो वि एमेव.” ॥१०६॥

पञ्चा० ६-३३ ॥

‡ य एव
भाव-लेशः,
स एव च

भगवतः
बहु-मतः ।

“अ-पुनर्बन्धका-ऽऽदि-चतुर्दश-गुण-स्थाना-ऽन्तर-भावतः,
तदा-ऽऽज्ञा-विषयत्वात् ।

तत्र—

इष्ट-साधनता-व्यञ्जक-व्यापारस्यैव
तद-ऽनुमतित्वात् ।

हीन-भावत्वेन—

अन-ऽनुमोद्यत्वे,
अति-प्रसङ्गात् ।

अवदाम चोपदेश-रहस्ये, :—

“जह हीणं द्रव्य-त्थयं, अणुमणेज्जा ण संजमो” त्ति मई, ।
ता “कस्स विसुह-जोगं तित्थ-यरो नाऽणुमणिज्जे ?” ॥ त्ति

“न

लकः = भाव-लेशः

इति

अर्थतः

विना

इतरेण = द्रव्य-स्तवेन ।”

सोऽपि = द्रव्य-स्तवोऽपि

एवमेव = अनुमत एव ॥ १०६ ॥

एतदेव स्पष्टयति, :—

“कज्जं इच्छंतेणं अण-ऽंतरं कारणं पि इट्ठं तु”, ।

जह आहार-ज-तित्तिं इच्छंतेणेह आहारो. ॥ १०७ ॥

पञ्चा० ६-३४ ॥

“कार्यम् ,

इच्छता

अन-ऽन्तरम् = अ-क्षेप-[मोक्ष-]-फल-
कारि

कारणम्

अपि

इष्टम् = एव भवति ।”

“कथम् ?”

यथा—

आहार-जाम्

तृप्तिम्

इच्छता

इह = लोके

आहारः—[इष्टः] दृष्टः ।

इति-गाथा-ऽर्थः

‡ “अपा-ऽर्ध-पुद्-गल-व्यवधानेनाऽपि—

भाव-स्तवे—

द्रव्य-स्तवस्य हेतुत्वात् ।”

“कथमऽन-ऽन्तरं कारणत्वम् ?” इति चेत्—

ऋजु-सूत्रा-ऽऽदि-नयेन ।

कथंचित्—

तत्-नये—

तत्-स्थलीया-ऽन-ऽन्तर-भाव-स्यैव पुरस्कारात् ।

व्यवहार-नयेन तु—

[द्वारेण] द्वारिणोऽन्यथा-सिद्धच-ऽभावात्,

अन-ऽन्तर-कारणत्वम-ऽविरुद्धमेव ।”

इति व्युत्पादितम्—

अध्या-ऽऽत्म-मत-परीक्षा-ऽऽदौ ॥ १०७ ॥

भषना-ऽऽदावऽपि विधिमाऽऽह, :—

जिण-भवन-कारणा-ऽऽइ वि भरहा-ऽऽईणं ण निवारियं तेणं,।

जह तेसिं चिय “कामा सल्लं-विसा-ऽऽईहिं णाए[वयणे]हिं. १०८

॥ पञ्चा० ६-३५ ॥

‡ जिण-भवन-कारणा-ऽऽद्यऽपि=द्रव्य-

स्तव-रूपम्

भरता-ऽऽदीनाम् = श्रावकाणाम्

‡ यथा—

तेषामेव = भरता-ऽऽदीनाम्

कामाः

न

निवारितम्

तेन = भगवता,

शल्य-विषा-ऽऽदिभिः

[चचनैः] = ज्ञातैः = [दृष्टा-ऽन्तैः]

निवारिताः ।

“सल्लं कामा, विसं कामा”

इत्याऽऽदि-प्रसिद्धैः ।”

इत्य-ऽर्थः ॥ १०८ ॥

ता, तं पि अणुमयं चिय अ-पडिसेहाओ तंत-जुत्तीए ।

इय सेसाण वि इत्थं अणुमोअणमाऽऽइ अ-विरुद्धं ॥ १०९ ॥

पञ्चा० ६-३६ ॥

‡ तत्,

तदऽपि=जिन-भवन-कारणा-ऽऽद्यपि
अनुमतमेव,

अ-प्रतिषेधात् = कारणात्

तन्त्र-युक्त्या, :-

“अ-निषिद्धमऽनुमतम्” इति तन्त्र-युक्तिः ।

‡ “इय०” एवम् = भगवदऽनुज्ञानात्

शेषाणामऽपि = साधनाम्

अत्र = द्रव्य-स्तवे

अनुमोदना-ऽऽदि

अ-विरुद्धम् ।

आदि-शब्दात्—

कारणोपदेशा-ऽऽदि-ग्रहः ॥ १०९ ॥

‡ युक्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :-

जं च चउद्धा भणिओ विणओ. उवयारिओ उ जो तत्थ, ।

सो तित्थ-यरे णियमा ण होइ दव्व-त्थयादऽन्नो. ॥ ११० ॥

पञ्चा० ६-३७ ॥

यः (यच्च)

चतुर्द्धा

भणितः

विनयः=ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लोको-
पचारिक-भेदात् ।

औपचारिकः=विनयः

तु

यः,

तत्र = विनय-मध्ये,

सः

तीर्थ-करे

नियमात् = अवश्यंतया

न

भवति

द्रव्य-स्तवात्—

अन्यः ।

किन्तु [अपि तु], द्रव्य-स्तव एव ॥ ११० ॥

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह हंदि वंदणाए वि ।

पूअणमा-ऽऽदुच्चारणमुववन्नं होइ जइणो वि. ॥१११॥

पञ्चा० ६-३८ ॥

‡ एतस्य=लोकोपचार-विनयैक-रूप-

द्रव्य-स्तवस्य

(तु)

संपादन-हेतोः = संपादना-ऽर्थम्

तथा-

“हंदि” = इत्युपदर्शना-ऽर्थम्

वन्दनायामऽपि=सूत्र-रूपायाम्

“पूअण-वत्तियाए” [इत्या-ऽऽदि]

उपपन्नम्

भवति

यतेरऽपि ॥ १११ ॥

इअरहा, अण-ऽत्थगं तं. ण य तय-ऽणुच्चारणेण सा भणिया. ।

ता अभि-संधारणमो संपाडणमिट्टमेअस्स. ॥ ११२ ॥

पञ्चा० ६-३९ ॥

इतरथा = तु

अन-ऽर्थकम्

न च

तद-ऽनुच्चारणेन--

तद् = उच्चारणम् ।

सा = [वन्दना] विदिता

भणिता=[यतेः] ।

‡ तत् = तस्मात्

अभि-सन्धारणेन - विशिष्टेच्छा-

रूपेण

संपादनम्—

इष्टम्

एतस्व=द्रव्य-स्तवस्य ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ११२ ॥

सक्खा उ कसिण-संजम-दव्वा-ऽ-भावेहिं णो अयं (जइणो) इट्टु. ।

गम्मइ तंत-ट्टिइए-“भाव-प्पहाणा हि मुणउ.” ति. ॥११३॥

पञ्चा० ६-४० ॥

‡ “साक्षात्तु=स्व-रूपेणैव
कृत्स्न-संयम-द्रव्या-ऽ-भावाभ्याम्=
कारणाभ्याम्
न

गर्भा-ऽर्थमाऽऽह, :—

“भाव-प्रधाना हि मुनयः” इति कृत्वा ।

“उपसर्जनमयम्” ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ ११३ ॥

एएहिं तो अण्णे धम्मा-ऽहिगारीहं जे उ, तेसिं तु ।

सखं चिय विण्णेयो. भाव-ऽंगतया, जओ भणियं, :- ॥ ११४ ॥

पठ्चा० ६-४१ ॥

‡ एतेभ्यः = मुनिभ्यः

अन्ये

धर्मा-ऽधिकारिणः

तेषां तु

विज्ञेयः

यतः

इह

ये = श्रावकाः

तु,

साक्षादेव स्व-रूपेणैव

भावा-ऽङ्गतया = हेतु-भूतया ।

भणितम्=[वक्ष्यमाणम्], :- ॥ ११४ ॥

“अ-कसिण-पवत्तगाणं विरया-ऽ-विरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसार-पयणु-करण दव्व-त्थए कूव-दिट्ठ-ऽन्तो” ॥ ११५ ॥

पठ्चा० ६-४२ ॥

अ-कृत्स्न-प्रवर्तकानाम्=संयममऽधिकृत्य

विरता-ऽ-विरतानाम् = प्राणिनाम्

एषः

खलु

युक्तः = स्व-रूपेणैव

संसार-प्रतनु-करणः=शुभा-ऽनुबन्धात्

द्रव्य-स्तवः ।

द्रव्ये-स्तवे = तस्मिन्

कूप-दृष्टा-ऽन्तः = प्रसिद्ध-कथानक-

गम्यः ॥ ११५ ॥

‡ आक्षिप्य समाधत्ते, :—

सो खलु पुष्पा-ऽऽइओ तत्थुत्तो, णजिण-भवनमा-ऽऽई वि ।

आइ-सद्दा बुत्तो, तय-ऽ-भावे कस्स पुष्पा-ऽऽई ? ॥ ११६ ॥

पञ्चा० ६-४३ ॥

“स खलु = द्रव्य-स्तवः

पुष्पा-ऽऽदिकः

तत्रोक्तः =

“पुष्पा-ऽऽइ ण इच्छंति ।” इति

प्रतिषेध-प्रत्यासन्नः [प्रतिषेध-प्रत्यासत्तेः]

न

जिन-भवना-ऽऽदिरऽपि = अनाकारात्” ।

तत्राऽऽह, :—

“आदि-शब्दात्

उक्तः = जिन-भवना-ऽऽदिरऽपि ।

तद-ऽ-भावे = जिन-भवना-

ऽऽद्य-ऽ-भावे

कस्य

पुष्पा-ऽऽदि- ? ।

इति-गाथाऽर्थः ॥ ११६ ॥

“नणु तत्थेव य मुणिणो पुष्पा-ऽऽइ-णिवारणं फुडं अत्थि.” ।

अत्थि तयं, सयं करणं पहुच्च, नऽणुमोयणा-ऽऽइ वि.” ॥ ११७ ॥

पञ्चा० ६-४४ ॥

‡ “ननु

तत्रैव च-स्तवा-ऽधिकारे

मुनेः

पुष्पा-ऽऽदि-निवारणम्

स्फुटम्

अस्ति-

“णौ कस्सिण-संजम०”

इत्या-ऽऽदि-वचनात् ।”

‡ एतदाऽऽशङ्क्याऽऽह, :-

अस्ति

किन्तु—

स्वयं करणं

न तु

तत् = सत्यम्,

प्रतीत्य=निवारणम् ,

अनुमोदना-ऽऽद्य-ऽपि=प्रतीत्यः

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ११७ ॥

‡ एतदेव समर्थयति, :-

सुव्वइ अ वयर-रिसिणा कारवणं पि अ अणुट्ठि अमिमस्स ।
वायग-गंथेसु तहा एअ-गया देसणा चेव ॥ ११८ ॥

पञ्चा० ६ ४५ ॥

श्रूयते च, :-

“वज्र-ऽर्षिणा=पूर्व-धरेण

कारवणमऽपि च=तत्त्वतः[करणमऽपि]

अनुष्ठितम्

तथा—

वाचक-ग्रन्थेषु=[तथा, धर्म-रत्न-

माला-ऽऽदिषु च]

एतद्-गता=[जिन-भवना-ऽऽदि-

द्रव्य-स्तव-गता]

एतस्य=द्रव्य-स्तवस्य,

“ माहेसरी उ० ”

“पूरिअं०” इत्या-ऽऽदि-वचनात् ।”

देशनाऽपि

चैव=दृश्यते [श्रूयते] ।

“यस्तृणमयीमऽपि० ” इत्याऽऽ-

दि-वचनात् ।

[“जिन-भवनम्०” इत्या-ऽऽदि ।]॥११८

आहे[ह, :-“ए]वं“हिंसा वि हु धम्माय ण दोस-यारिणी”त्ति ठियं ।
एवं च-“वेय-विहिआ णेछिज्जइ सेह.” वामाहो.” ॥११९ ॥

‡ आह, :-

“एवम् = द्रव्य-स्तव-विधाने

“हिंसाऽपि=(खलु)

[धर्माय]=[क्रियमाणी]

न

दोष-कारिणी ।”

इति स्थितम्=न्यायतः,

तामऽन्तरेण द्रव्य-स्तवा-ऽभावात् ।

एवं च = [स्थिते सति]

वेद-विहिता = [याग-विधाने]

सा = हिंसा

इह = विचारे

न

इष्यते, स

व्यामोहः—भवताम्, तुल्य-योग-क्षेपत्वात् ।” ॥ ११९ ॥

‡ “पीडा-गरी” त्ति. “अह सा”. “तुल्लमिणं हंदिं अहिगयाए वि.” ।

“ण य पीडाउ अ-धम्मो णियमा, विज्जेण वभिचारा.” ॥ १२० ॥

“पीडा-कारिणी ।” इति

अथ

एतदाऽऽशङ्क्य, आह, :—

“तुल्यम्

इदम्

हंदि

उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :—

“न च

पीडातः

वैद्येन =

हित-कृतस्तस्योषधात्

पीडोत्पत्तावऽप्य-धर्माऽनुपपत्तेः ।” ॥ १२० ॥

सा = वेद-विहिता-हिंसा ।”

अधि-कृतोयामऽपि = जिन-भवना-
ऽऽदि-हिंसायामऽपि ।”

अ-धर्मः

नियमात् = एका-ऽन्तेनेव,

व्यभिचारात्,

“अह, तेसिं परिणामे सुहं तु.” “तेसिं पि सुव्यइ एअं. ।

तज्जणणे वि ण धम्मो भणिओ पर-दारगा-ऽऽईणं.” ॥ १२१ ॥

‡ “अथ

तेषाम् = जिन-भवना-ऽऽदौ हिंस्य-

मानानाम्

परिणामे

सुखमेव,

इत्य-ऽदोषः ।”

एतदाऽऽशङ्क्याऽऽह, :—

तेषामऽपि=यागे हिंस्यमानानाम्

श्रूयते

एतद्=[सुखम्] स्वर्ग-पाठात् ।”

उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :—

‘तज्-जननेऽपि=सुख-जननेऽपि

भणितः

न

पारदारिका-ऽऽदीनाम् ।

यमः

“तस्मात्, एतदऽपि व्यभिचारि ।” इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १२१ ॥

“सिय.” “तत्थ सुहो भावो तं कुणमाणस्स” “तुल्लमेअं पि.” ।

इयरस्स वि सुहो च्चिय णेयो इयरं कुणंतस्स.” ॥१२२॥

“स्याद् ।”

“तत्र=जिन-भवना-ऽऽदौ

ताम्=हिंसाम्

शुभोभावः

कुर्वतः, इति ।”

एतदाऽऽशङ्क्य आह, :—

“तुल्लम्

एतदऽपि ।”

“कथम् ?” इति आह, :—

“इतरस्याऽपि=वेद-विहित-हिंसा-कर्तुः

ज्ञेयः = भावः

शुभः

इतराम् = वेद-विहितां हिंसाम्

एव

कुर्वतः = याग-विधानेन” ॥१२२॥

“एगिंदिया-ऽऽई अह ते.” “इयरे थोव. “त्ति.” ता किमेएणं?!”

“धम्म-ऽत्थं सव्वं चिय वयणा एसा नदुट्ठु”. “त्ति.” ॥२२३॥

“एकेन्द्रिया-ऽऽदयः

ते=जिन-भवना-ऽऽदौ (ये) हिंस्यंते ।”

अथ

एतदा-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

“इतरे

स्तोकाः=वेदाद् यागे हिंस्यन्ते” ।

“तत्

एतेन = तवाऽभिनिवेशेन ?

किम्

[भेदा-ऽभिनिवेशेन ?]”

“धर्मा-ऽर्थम् =

एव = सामान्येन

सर्वम्

वचनात्,

एषा = हिंसा

दुष्टा ।”

न

ति । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१२३॥

एवम्—

पूर्व-पक्षे प्रवृत्ते सति,

। आह, :—

“एयंपि ण जुत्ति-खमं, ण वयण-मित्ता उ होइ एवमिअं ।

संसार-मोयगाण वि धम्मा-ऽदोस-प्पसंगाओ” ॥१२४॥

एतदऽपि

युक्ति-क्षमम् = यदुक्तं परेण,

न

“कुतः ?” इति, आह, :—

न

एवम्

वचन-मात्रात् = अनुपपत्तिकात्

एतत् = सर्वम् [मेव]”

भवति

“कुतः ?” इति, आह, :—

संसार-मोचकानामऽपि = वचना-

अ-दोष-प्रसङ्गात् = अ-दुष्टत्वा-ऽऽ

र्द्धिसा-कारिणाम् (अपि)

पत्तेः ।” इत्य-ऽर्थः ।

धर्मस्य = “दुःखिनो हन्तव्याः।”

इत्यस्य—

[धर्मा-ऽदोष-प्रसङ्गात्, धर्म-प्रसङ्गात्, अ-दोष-प्रसङ्गाच्च ।] ॥ १२४ ॥

“सिय, “तं ण सम्म-वयणं” इयरं सम्म-वयणं.” ति किं माणं ?”

“अह लोम च्चिय.” णेयं [न] तथा (ऽ-) पाठा, विगाणा य.” ॥१२५

‡ 'स्यात्,

"तत् = संसार-मोचक-वचनम्

न

सम्यक् = वचनम् ।"

इत्वाऽऽशङ्क्य, आह, :—

"इतरद् = वैदिकम्
सम्यग् वचनम्"

इति किं मानम् ?"

"अथ,

। लोक एव = मानम् ।"

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

"न

। एतत् तथा,

[न, तहाऽ-पाठा] = लोकस्य प्रमाण तथाऽ-पाठात्;

अन्यथा, प्रमाणस्य षट्-संख्या-विरोधात् ।

तथा,

अ-विगानाच्च = न हि "वेद-वचनं प्रमाणम् ।" इत्येकवाक्यता
लोकानाम्, इति (?) ॥ १२५ ॥

"अह पाठो ऽभिमतो च्चिय, विगानम ऽपि एत्थ थोवगाणं उ."।

"एत्थं पि ण प्पमाणं, सव्वेसिं अ-दंसणाओ उ." ॥ १२६ ॥

अथ

एव = लोकस्य

पाठः

प्रमाण-मध्ये, षण्णामुपलक्षणत्वात्

अभिमतः

"विगानमऽपि =

स्तोकानामेव = लोकानाम् ।"

अत्र = वेदे-वचना-ऽ-प्रामाण्ये

एतदाऽऽशङ्क्य, आह, :—

अत्राऽपि=कल्पनायाम् [एवं कल्पनायाम्]

सर्वेषाम् = लोकानाम्,

न

अ-दर्शनादेव="अल्पत्व-बहुत्वे निश्चया-
ऽ-भावात्" इत्य-ऽर्थः ॥ १२६ ॥

प्रमाणम्

किं तेसिं दंसणेणं अप्प-बहुत्तं जहित्थ, तह चेव ।
सव्वत्थं समवसेयं णेवं वभिचार-भावाओ. ॥१२७॥

‡ “किम्
तेषाम्

अल्प-बहुत्वम्
यथा

इह = मध्य-देशाऽऽदौ वेद-वचन-
प्रमाणं प्रति,

‡ अत्राऽऽह, :—

“नैवम्,

एतदेवाऽऽह, :—

सर्वेषाम् = लोकानाम्
दर्शनेन ?

तथैव

सर्वत्र=क्षेत्रा-ऽन्तरेष्वपि

समवसेयम् = लोकत्वा-ऽऽदि-
हेतुभ्यः, इति ।”

व्यभिचार-भावात्=कारणात् ॥१२७

अग्गा-ऽऽहारे बहुगा दिसंति दिआ, तहा ण सुद्ध ति।
ण य तदंसणओ च्चिय सव्वत्थ इमं हवइ एवं. ॥१२८॥

अग्ना-ऽऽहारे

बहवः

दृश्यन्ते

ब्राह्मणाः,

न च

तद्-दर्शनादेव = अग्ना-ऽऽहारे

बहु-द्वि-ज-दर्शनादेव

सर्वत्र = भिल्ल-पल्ल्या-ऽऽदावऽपि

तथा

न

शूद्राः

इति=ब्राह्मणवद् बहवो दृश्यन्ते,

एतद्

भवति

एव = द्वि-ज-बहुत्वम्, इति ।

॥गाथा-ऽर्थः ॥१२८॥

‡ उपपत्त्य-ऽन्तरमाह, :—

“ण य “बहुगाणऽपि इत्थं अ-विगाणं सोहणं.”ति नियमोऽयं.” ।
“ण य “णो थोवाणं पि हु,” “मूढेयर-भाव-जोएणं”. ॥१२९॥

“न च
बहूनामऽपि
अत्र = लोके

अ-विगानम् = एक-वाक्यता रूपम्,
शोभनम् ।”
इति नियमोऽयम् ।”

“न च
“न स्तोकानामऽपि = न शोभनमेव ।”
“सूटानां बहूनामऽपि न शोभनम्,

(इति नियमः), [“कुतः ?” इति, आह-]
सूढेतर-भाव-योगेन ।”

अ-सूढरय त्वेकस्यैव,” इति-भावः

[बहूनामऽपि सूढ-व्यापार-भावात्, स्तोकानामऽपि चाऽ-भावात् ।] ॥१२९॥

“ण य 'रागा-ऽऽइ-विरहिओ को ऽवि माया विसेस-कारि” ति” ।

“जं सव्वे वि अ पुरिसा रागा-ऽऽइ-जुआ उ.” पर-पक्खे ॥१३०॥

‡ “न च
“रागा-ऽऽदि-विरहितः = सर्वज्ञः
कश्चित्
मता=प्रमाता
[“कुतः ?” इति, आह, :—]

विशेष-कारी=विशेष-कृत् ।”

इति =

[य एवं वेद, :-“वैदिकमेव प्रमा-
णम्, नेतरद् । इति]”

“यत्,
सर्वेऽपि
पर-पक्षे = मीमांसकस्य

पुरुषाः

रागा-ऽऽदि-युता एव ।”

सर्व-ज्ञा-ऽनऽभ्युपगन्तृत्वात् ॥ १३० ॥

‡ दोषा-ऽन्तरमाह, :-

“एवं च वयण-मित्ता धम्मा-ऽ-दोसाइ मिच्छगाणं पि ।

घायंताणं दि-अ-वरं पुरओ णणु चंडिगा-ऽऽईणं ॥१३१॥

एवं च = प्रमाण-विशेषा-ऽ-परिज्ञाने
सति,

वचन-मात्रात् = सकाशात्

धर्मा-ऽ-दोषौ [ते] = प्राप्नुतः
म्लेच्छा-ऽऽदीनामऽपि = भिल्ला-
ऽऽदीनामऽपि ।

["क्व ?" इति, आह, :—

घातयताम्

द्वि-ज-वरम्=ब्राह्मण-मुख्यम्

पुरतः

ननु

चण्डिका-ऽऽदीनाम्=देवता-विशेषा-
णाम् ॥ १३१॥

["एवं च-चण्डिका-ऽऽदीनां देवता-विशेषाणां पुरतोः द्वि-ज-वरं घातयतां स्लेच्छका-
ऽऽदीनामऽपि ननु वचन-मात्रात् धर्मा-ऽ-दोषौ भवेताम्" इत्यन्वयः । सं०)

“न य तेसिं पि ण वयणं एत्थ निमित्तं” ति, जं ण सव्वे उ. ।
तं तह घायंति सया, अ-स्सुअ-तच्चोयणा-वक्का” ॥१३२॥

‡ “न च

तेषामऽपि = स्लेच्छानाम्

न वचनम्

अत्र = द्वि-ज-घाते

निमित्तम्”

इति । किन्तु-वचनमेव ।”

“कुतः ?” इति, आह, :—

“यत्,

न

सर्व एव=स्लेच्छाः

तत्र = द्वि-ज-वरम्

तथा

घातयन्ति

(सदा) [तदा] (,)

अ-श्रुत-तच्-चोदना-वाक्याः=[द्वि-ज-

घात-चोदना-वाक्यात्] अ-श्रुतं तच्

चोदना-वाक्यं द्वि-ज-घाति-विधि-

वाक्यं यैः, ते, तथा” ॥१३२॥

“अह “तं ण एत्थ रूढं” “एअं पि ण तत्थ.” तुल्लमेवेयं.” ।

“अह “तं थोवमणु चियं” “इमं पि एयारिसं तेसिं.” ॥१३३॥

‡ “अथ,

“तद् = स्लेच्छ-प्रवर्तकं वचनम्

न

अत्र = लोके

रूढम् ? ।”

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

“एतदऽपि = वैदिकम् (मऽपि)

न

“तुल्यमेव

अथ,

“तत् = म्लेच्छ-प्रवर्तकं वचनम्

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

“इदम् = वैदिक-चोदना-वाक्यम्
अपि

तत्र = -भिल्ल-मते [म्लेच्छ-लोके]
रूढम् ।” इति ।

इदम् = अन्यतरा-ऽ-रूढत्वात् ।”

स्तोकम् ,
अनुचितम् = अ-संस्कृतम् ।”

एता-दृशम् = [ईदृशमेव-स्तोका-ऽऽदि-
धर्मकम् ,]

तेषाम् = [म्लेच्छानाम्, आशय-भेदात् ।]”

॥ १३३ ॥

[१३४-१३५-गाथयोः सम्यग् नाऽवबुध्यते ऽवचूरिका । यथैव मुद्रिते, तथैव कलकत्ता-तपागच्छीय-पुस्तका-ऽऽलय-स्थ-हस्त-लिखित-पुस्तके पाठः प्रायः । न गाथयोरवचूरिः, किन्तु द्वयोरवतरणिका-रूपेण पूर्वमेव कथञ्चित् पाठः । तथापि छायां कृत्वा, अर्थ संगति-करणे प्रयासः कृत उपरिष्ठात् । पञ्च-वस्तु-महा-ग्रन्थे, स्तव-परिज्ञा-ग्रन्थस्थ तयोर्गाथयोर्मूले ऽवचूरिके चात्रैव कोष्ठका-ऽन्तरे प्रदर्शिते, अन-ऽन्य-गतिकत्वात् । संपादकः]

[“अह तं वेय-ऽगं खलु” “न तं पि एमेव” “इत्थ वि ण माणं ।”

“अह-तथा-ऽ-सवणमिणं” सिएअमुच्छिन्न-साहं तु.” ॥ १३४ ॥

‡ अथ

तत्

(ण)

इत्या-ऽऽशङ्क्या आह, :—

‡ “न

तदऽपि-म्लेच्छ-प्रवर्तकम्

वेदा-ऽङ्गम्

खलु = द्वि-ज-प्रवर्तकम् ।”

एवमेव = वेदे ।” इति

‡ “अत्राऽपि

न

: “अथ

तत्र = वेदे

मानम् ।”

अ-श्रवणम्—

इदम्=मानम् ।

न हि तद् वेदे श्रूयते’

इत्याऽऽशङ्क्य, आह, :—

स्याद्

एतद्,

उत्सन्न-शाखं तु=उत्सन्न-शाखमेतदपि
संभाव्यते ।”

इति-गाथाऽर्थः ॥ १३४ ॥

“ण य तव्वयणाओ च्चिय तदुभय-भावो ति, तुल्ल-भणिईओ.”॥

अण्णा वि कप्पणेवं साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५ ॥

“न च

तद्-वचनात्=वेद-वचनादेव

“कुतः ?” इत्याऽऽह, :—

तुल्य-भणितेः = म्लेच्छ-वचनादेव ।”

“एतदुभयम् = इत्यऽपि वक्तुं शक्यात्वात्,” इत्यऽर्थः ।

तदुभय-भावः = धर्मा-ऽ-दोष-भावः,
इति ।

अन्याऽपि

कल्पना = ब्राह्मण-परिग्रहीतत्वा-

ऽऽदि रूपा,

एवम् = उक्तवत्—

भिल्ल-परिग्रहीतत्वा-ऽऽदि प्रकारेण,
साधर्म्य-वैधर्म्यतः = कारणात्
दुष्टा ।

इति गाथाऽर्थः ॥ १३५ ॥]

“म्लेच्छ-प्रवर्तकमेव वदेऽ स्त, न द्वि-ज प्रवर्तकम्, श्रवण-मात्रस्याऽ-
तन्नत्वात् । अ-श्रवणस्योच्छिन्न-शाखत्वेनोपपत्तेः” इति तैरपि वक्तुं शक्य-
त्वात् इति । (१३४)अन्याऽपि कल्पना = ब्राह्मण-परिग्रहीतत्वादि-रूपा भिल्ल-परिग्रही-
तत्वा-ऽऽदि, तुल्यत्वेन दुष्टा, (१३५) इत्याऽऽह, :—

“अहं तं ण वेइअं खलु.” “न तं पि एमेव, इत्थं वि ण माणं, ।”
 “अहं तत्थाऽ-सवणमिदं हविज्ज, उच्छिण्ण-साहत्ता. ॥ १३४ ॥
 ण य तव्विवज्जणाओ उचिय-भावोऽत्थ, तुल्ल-भणिईओ. ।
 अण्णा वि कप्पणाइ साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५ ॥
 (“अथ-तद्-न वैदिकं खलु” “न तदऽपि एवमेव, अत्राऽपि न मानम्”, ।
 “अथ-तत्राऽ-श्रवणमिदं भवेत्, उच्छिन्न-शाखत्वात् ॥ १३४ ॥
 न च तद्-विवर्जनात् उचित-भावोऽत्र, तुल्य भणितः. ।
 अन्याऽपि कल्पना साधर्म्य-वैधर्म्यं तोदुष्टा. ॥ १३५ ॥) (?)

‡ यस्मादेवम्,

“तम्हा ण वयणंमित्तं सव्वत्थं ऽ-विसेसओ बुह-जणेणं ।
 एत्थं पवित्ति-णिमित्तं. एअं दट्ठव्वयं होइ.” ॥ १३६ ॥

तस्मात्

न

वचन-मात्रम् = उपपत्ति-शून्यम्

सर्वत्र

अ-विशेषतः = कारणान्

बुध-जनेन = [विद्वज्जनेन]

अत्र = लोके

प्रवृत्ति-निमित्तम् = [हिता-ऽऽदौ]

[एअं = एतद्]

द्रष्टव्यम्

भवति ।

[“न” इति वर्तते (?)] ॥ १३६ ॥

किं पुण विसिट्ठं चिय, जं दिट्ठिट्ठाहिं णो खलु विरुद्धं, ।
 तह संभवं [त-रूवं] स-रूवं विआरिउं सुद्ध-बुद्धिए ! ॥ १३७ ॥

‡ किं पुनर्

“किं भूतम् ?” इत्याऽऽह, :—

यद्

दृष्टेष्टाभ्याम्

न खलु

विशिष्टमेव = वचनं प्रवृत्ति-निमित्त-
 मिह द्रष्टव्यम् ।

विरुद्धम् = “तृतीय-स्थान-संक्रान्तम्”

इत्य-ऽर्थः ।

तथा,

संभवत्-स्व-रूपम् = यद् "न पुनः,-
अत्य-ऽन्ता-ऽसंभवि" इति

विचार्य

शुद्ध-बुद्ध्या = मध्य-स्थया ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १३७ ॥

जह, इह, द्रव्य-थयाओ भावा-ऽऽवय-कप्प-गुण-जुआउ [सेओ] ।
जयणाए पिडुवगारो जिण-भवन-कारणाऽऽई उ [द्] ति न विरुद्धं.

॥ १३८ ॥

“यथा,

द्रव्य-स्तवात्

भावा-ऽऽपत्कल्प-गुण-युक्तात्
नाऽन्यथा रूपात्,

यतनया = यत्नेन

पीडोपकारः = पीडया उपकारः,

बहु-गुण-भावात्

“इति

इह = प्रवचने,

“किं भूतान् ?” इत्याऽऽह,

श्रेयस् [ज्यायत्]

जिन-भवन कारणा-ऽऽदेः = द्रव्य-
स्तवात् ।”

न

विरुद्धम् = एतत्” ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १३८ ॥

‡ एतदेव स्पष्टयति, :—

सइ सव्यत्था ऽ-भावे जिणाणं, भावा-ऽऽवयाए जीवाणं, ।
तेसिं तित्थरण-गुणं णियमेण इहं तदा-ऽऽययणं ॥ १३९ ॥

‡ सदा

सर्वत्र = क्षेत्रे

भावा-ऽऽपदि = [सत्याम्]

तेषाम् = [जीवानाम्]

निस्तर-गुणम् =

नियमेन = तावद्

अ-भावे

जिनानाम् ,

जीवानाम् ,

इह = लोके

तदा-ऽऽयतनम् = जिना-ऽऽयतनम् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १३९ ॥

तत्त्विंस्स पइट्ठा, साहु-णिवासो अ, देसणा-ऽऽइ अ, ।
इक्कक्कं भावा-ऽऽवय-नित्थरण-गुणं तु भव्वाणं. ॥१४०॥

‡ तत्त्विंस्स = जिन-विम्बस्य

पइ-ट्ठा = प्रतिष्ठा,

‡ तत्र, तथा-विध—

साहु निवासश्च = विभागतः ।

‡ देशना-ऽऽदयश्च

[आदि-शब्दात्=ध्याना-ऽऽदि-परिग्रहः]

‡ एकैकम् = तद्-विम्ब-प्रतिष्ठा-ऽऽदि
अत्र—

एव

भव्यानाम् = प्राणिनाम् ॥१४०॥

भावा-ऽऽपद्-निस्तरण-गुणम्

पीडा-गरी वि एवं एत्थ पुट्ठा-ऽऽइ-हिंस-जुत्ताओ. ।

अण्णेसिं गुण-साहण-जोगाओ दीसइ इहं तु [हेव] ॥१४१॥

‡ पीडा-कारिण्यऽपि

पृथ्या-ऽऽदि-हिंसा

एवम्

युक्ता

अत्र = जिन-भवने

एव,

अन्येषाम् = प्राणिनाम्

गुण-साधन-योगात् ।

दृश्यते

इह

एतच्च = गुण-साधनम्

एव,— । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१४१॥

आरंभवओ य इमा आरंभ-ऽन्तर-निव्वित्तिका पायं. ।

एवं वि हुअ-णियाणा इट्ठा, एसां वि मुख-फला. ॥१४२॥

‡ आरम्भवत्तश्च

आरम्भा-ऽन्तर-निवृत्ति-दा

इमा=विहिता (हिंसा)

प्रायः=विधिना कारणात् ।

एवमऽपि च

परस्य—

अ-निदाना=विहिता,

इष्टा=च ।

एषाऽपि=पीडा

मोक्ष-फला=“न अभ्युदयायैव ।”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १४२ ॥

ता एयम्मि [एईए] अ-हम्मो णो, इह जुत्तं पि विज्ज-णायमिणं ।
हंदि गुणहं ऽंतर-भावा. इहरा, विज्जस्स वि अ-धम्मो. ॥१४३॥

‡ तत् = तस्मात्,

अस्याम् = पीडायाम्

इह

युक्तम् ऽपि

हंदि

‡ इतरथा = अ-विधिना,

गुणा-ऽन्तरा-ऽ-भावे,

अ-धर्मः

न = “गुण-भावेन” इति (-हे तोः) ।

वैद्य-ज्ञातम्

इदम् = प्रागुक्तम् ।

गुणा-ऽन्तर-भावात् = दर्शितं चैतद् ।

वैद्यस्याऽपि

अ-धर्मः = एव, पीडयां स्यात्, इति ॥

१४३॥

णयवेय-गया चैवं सम्मं, आवय-गुण-ऽन्निया एसा,।

णयदिट्ठ-गुणा, तज्जुय-तय-ऽंतर-णिट्ठित्ति-आ नेव. ॥१४४॥

‡ न च

वेद-गता[ऽपि]

‡ आपद्-गुणा-ऽन्विता

एवम् = जिन-भवना-ऽऽदि हिंतावत्

सम्यग्,

एषा = हिंसा,

तामऽन्तरेणाऽपि जीवानां भावा-ऽऽपदोऽभावात् ।

‡ न च

दृष्ट-गुणा = साधु-निवासा-ऽऽदिवत्,

तथा-ऽनुपलब्धेः ।

‡ तद्-युक्त-तद्-ऽन्तर-निवृत्ति-दा =

हिंसा-युक्त-क्रिया-ऽन्तर-निवृत्ति-दा

नेष = न हि ।

“प्राक् तद्-वध-प्रवृत्ता यान्निकाः” ॥ १४४ ॥

“ण य फलुद्देश-प्रवृत्तिओ इयं मोक्ख-साइगा वि” त्ति ।

मोक्ख-फलं च सु-वयणं, सेसं अत्था-ऽऽइ-वयणं समं ॥१४५॥

‡ ‘न च

फलोद्देश-प्रवृत्तिः

इयम् = हिंसा

मोक्ष-साधिका

अपि’

इति ।

“इवेतं वायव्यमऽजमाऽऽलभेत् भूति-कामः”

इत्या-ऽऽदि-श्रुतेः ।

‡ मोक्ष-फलं च

सु वचनम् = “स्वा-ऽऽगमे” इत्य-ऽर्थः ।

‡ शेषम् =

अर्था-ऽऽदि-वचन-समम् = “फल-भावे
ऽपि अर्थ-शास्त्रो-ऽऽदि-तुल्यम् ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ १४५ ॥

इहैवाऽऽगम-विरोधमाऽऽह, :-

“अग्गी मा एआओ एणाओ मुंचउ.” त्ति य सुई वि. ।

तप्पाव-फला “अन्धे तमसि” इच्चा-ऽऽइ य सई वि. ॥१४६॥

‡ “अग्निः

माम्

एतस्मात् = हिंसा कृताद्

एनसः = पापात्

मुञ्चतु = छान्दसत्वात्, मोचयतु.”

इति श्रुतिरऽपि = विद्यते, “वेद वाग्”

इत्य-ऽर्थः ।

‡ तत्-पाप-फलात् = तद्वत्-हिंसा-फलात्

स्मृतिरऽपि = विद्यते ।

“अन्धे तमसि०” इत्या-ऽऽदिश्च

“अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।

हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥”

इति-वचनात् । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१४६॥

अत्थि जओ, ण य “एसा अण्ण-ऽत्था” [तीरइ] सक्कए इहं भणि उ. ।

अ-विणिच्छया. ण येवं इह सुव्वए पाव-वयणं तु. ॥१४७॥

“अस्ति

न च

“एषा=[श्रुतिः स्मृतिश्च]

अन्या Sर्था = अ-विधि-दोष-निष्पन्न-
पापा-Sर्था ।”

“कुतः ?” इत्याऽऽह, :—

अ-विनिश्चयात् = “प्रमाणा-S-भावात्” इत्य-Sर्थः ।

‡ न च

एवम्

इह=जिन-भवना-SSदौ

यतः=श्रुतिः स्मृतिश्च ।”

शक्यते

इह

वक्तुम् ।

श्रूयते

पाप-वचनम्=प्रवचने

(तु) ॥ इति गाथा-Sर्थः ॥ १४७॥

परिणामे य [म-सु] सुहं णो तेसिं इच्छिज्जइ, ण य सुहं पि ।
मन्दा-S-पथ-कथ-समं. ता तमुवण्णास-मित्तं तु. ॥१४८॥

‡ परिणामे च

सुखम्

न

‡ न च

सुखम्

‡ यस्मादेवम्,

तस्मात्,

[यदुक्तम्—

“अह तेसिं परिणाम० [१२१]” इत्या-ऽऽदिना ॥ १४८ ॥

इय दिट्ठेट्ठ-विरुद्धं जं वयणं, एरिसा पवत्तस्स, ।

मिच्छा-ऽऽइ-भाव-तुल्लो सुह-भावो हंदि विण्णेयो. ॥१४९॥

‡ “इय” एवम्

दृष्टेष्ट-विरुद्धम्

यद्

वचनम्,

ईदृशात्

प्रवृत्तस्य=सतः

म्लेच्छा-ऽऽदि-भाव-तुल्यः

शुभ-भावः

हंदि विज्ञेयः = सोहात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १४९ ॥

‡ “एगिंदिया-ऽऽइ अह ते० [१२३]” इत्या-ऽऽदि यदुक्त्वम्, तत्परिहारा-
ऽर्थमाऽऽह, :—

“एगिंदिया-ऽऽइ-भेयो ऽवित्थ णणु पाव-भेय-हेउ”ति ।

इद्वोतए ऽवि स-मए तह सुद-दि-आ-ऽऽइ-भेएणं ॥१५०॥

‡ “एकेन्द्रिया-ऽऽदि-भेदोऽपि

अत्र=व्यति करे

इति

इष्टः

तवाऽपि

ननु

पाप-भेद-हेतुः”

स्व-मते

तथा = तेन प्रकारेण

शूद्र-द्वि-जा-ऽऽदि-भेदेन ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५० ॥

‡ एतदेवाऽऽह, :—

“सुदाण सहस्सेण ऽविण बंभ-हच्चेह घाइएणं” ति ।

जह, तह अप्प-बहुत्तं, एत्थ वि गुण-दोस-चिंताए ॥१५१॥

शूद्राणाम्

सहस्रेणाऽपि

न

ब्रह्म-हत्या

तथा

अल्प-बहुत्वम्

इह

घातितेन”

इति

यथा = भवताम्,

अत्राऽपि—

गुण-दोष-चिन्तायाम् = ज्ञेयम्

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५१ ॥

अप्पाय होइ एसा एत्थं जयणाए वट्टमाणस्स. ।

जयणा उ धम्म-सारो विण्णेया सव्व-कज्जेसु. ॥ १५२ ॥

‡ अल्पा च
भवति
एषा=हिंसा

अत्र
यतनया
वर्तमानस्य=जिन-भवना-ऽऽदौ ।

यतना च
धर्म-सारः [हृदयम्]

विज्ञेया
सर्व-कार्येषु = ग्लाना-ऽऽदिषु ।

“यतना-भाव-शुद्धिभ्यां

हेत्व-ऽनुबन्ध-हिंसा-ऽ-भावे

स्व-रूपतः पर्यवसानमेवाऽल्पत्वम् ।

न चाऽल्पोऽपि ततो बन्धः ।

“इडा एसा वि मोक्ख-फला ।” [१४२] इति

प्रागेवोक्तत्वात् ।

“अणुमित्तोऽपि ण कस्सऽह बन्धो

वर-वत्थु-पच्चया भणिओ.” त्ति-सैद्धान्तिकाः ॥ १५२ ॥

जयणेह धम्म-जणणी. जयणा धम्मस्स पालणी चेव. ।

तव्वुड्ढि-करी जयणा. एग-ऽत-सुहा-ऽऽवहा जयणा. ॥ १५३ ॥

पञ्चा० ९-३०

यतना
इह

धर्म-जननी = ततः प्रसूतेः ।

यतना

धर्मस्य पालना चैव=प्रसूत-रक्षणात् ।

तद्-वृद्धि-कारिणी

यतना = इत्थं तद्-वृद्धेः ।

एका-ऽन्त-सुखा-ऽऽवहा

यतना = सर्वतोभद्रत्वात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५३ ॥

जयणाए वट्टमाणो जीवो समत्त-णाण-चरणाणं ।

सद्धा-बोधा-ऽऽसेवणं भावेणाऽऽराहगो भणिओ. ॥ १५४ ॥

पञ्चा० ॥ ७-३९ ॥

यतनया वर्तमानो जीवः

परमा-ऽर्थेन—

सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानाम्=

त्रयाणामऽपि

श्रद्धा बोधा-ऽऽसेवन-भावेन=हेतुना

आराधकः

भणितः=तथा-प्रवृत्तेः ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५४ ॥

एसाय होइ णियमा तय-ऽहिग-दोस-विणिवारणी जेण, ।

तेण णिवित्ति-पहाणा विण्णेया बुद्धिमत्तेणं. ॥ १५५ ॥

पञ्चा० ७-३२ ॥

एषा च भवति नियमात् = यतना

तेन

निवृत्ति-प्रधाना= तत्त्वतः

तद्-ऽधिक-दोष-निवारिणी

येन=अनुबन्धेन,

विज्ञेया

बुद्धिमता = सत्त्वेन ॥ १५५ ॥

सा इह परिणय-जल-दल-विसुद्ध-रूवा उ होई विण्णेया. ।

अत्थ-व्वओ महंतो, सव्वो सो धम्म-हेउ” ति. ॥ १५६ ॥

पञ्चा० ७-३३ ॥

सा=यतना

इह = जिन-भवना-ऽऽदौ

परिणत-जल-दल-विशुद्धि-रूपा

अर्थ-व्ययः

यद्यऽपि—

महान्=भवति तत्र,

एव

भवति

विज्ञेया=प्रासुक-ग्रहणेन ।

तथाऽपि—

सर्वोऽसौ

धर्म-हेतुः=स्थान-नियोगात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५६ ॥

‡ प्रसङ्गमाऽऽह, :—

एतो च्चिय णिदोसं सिप्पा-ऽऽइ-विहाणमो जिणिंदस्स ।
 लेसेण स-दोसं पि हु बहु-दोस-णिवारणत्तेणं ॥ १५७ ॥
 वर-बोधि-लाभओ सो सव्वुत्तम-पुण्ण-संजुओ भयवं, ।
 एग-ऽंत-पर-हिअ-रओ, विसुद्ध-जोगो, महा-सत्तो, ॥१५८॥
 जं बहु-गुणं पयाणं, तं णाऊणं, तहेव देसेइ, ।
 तं रक्खंतस्स तओ जओचिअं कह भवे दोसो ? ॥१५९॥
 तत्थ पहाणो अंसो बहु-दोस-निवारणेह जग-गुरुणो, ।
 नागा-ऽऽइ-रक्खणे जह कडूढण-दोसे वि सुह-जोगो, ॥१६०॥
 एवं णिवित्ति-पहाणा विण्णेया तत्तओ अहिंसेयं, ।
 जयणावओ उ विहिणा पूआ-ऽऽइ-गया वि एमेव, ॥१६१॥

पञ्चा० ७-३५-३६-३७-३८-४२ ॥

आसां व्याख्याः, :—

अत्त एव=यतना-गुणात्

निर्दोषम्

शिल्पा-ऽऽदि-विधानम् = [अपि]

बहु-दोष निवारणत्वेन = अनुबन्धतः । इति-गाथा-ऽर्थः १५७ ॥

एतदेवाऽऽह, :—

वर-बोधि-लाभतः = सकाशात्

सः [असौ] = जिनेन्द्रः

एका-ऽन्त-पर-हित-रतः = तत्-स्व-भावत्वात्,

विशुद्ध-जोगः,

महा-सत्त्वः, =इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५८ ॥

जिनेन्द्रस्य = आद्यस्य

लेशेन

स-दोषमऽपि = सत्,

सर्वोत्तम-पुण्य-संयुक्तः, =

भगवान्,

यद् बहु-गुणम्

तद्

तथैव

[तान्

रक्षतः]

कथं भवेत्

प्रजानाम्= प्राणिनाम् ।

ज्ञात्वा,

देशगते = भगवांस्तावत्,

ततः

यथोचितम्=अनुबन्धतः,

दोषः=? , नैव ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५९ ॥

एतदेव स्पष्टयति, :—

तत्र=शिल्पा-ऽऽदि-विधाने

प्रधानः

अंशः

नागा-ऽऽदि-रक्षणे यथा=

जीवित-रक्षणेन

बहु-दोष-निवारणा

इह= [जगति]

जगद्-गुरोः ।

आ-कर्षण-दोषेऽपि=कण्टका-ऽऽदेः

शुभ-योगः=भवति ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६० ॥

‡ एवम्—

निवृत्ति-प्रधाना = अनुबन्धमऽधिकृत्य

विज्ञेया

यतनावतस्तु

विधिना=क्रियमाणा

तत्त्वतः

अ हिंसा

इयम् =जिन-भवना-ऽऽदि-हिंसा ।

पूजा-ऽऽदि गताऽपि

एवमेव=तत्त्वतोऽ-हिंसा ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६१ ॥

प्रसङ्गमाऽऽह, :—

सिय, “पूआओवगारो ण होइ कौऽवि पूअणिज्जाणं, ।
 कय-किच्चत्तणओ तह जायइ आसायणा चेवं. ॥१६२॥
 स्यात् ।

‡ "पूजया

उपकारः = तुष्ट्या-ऽऽदि-रूपः

न भवति

कृत-कृत्यत्वात्=इति युक्तिः ।

तथा,

जायते

कश्चिद्

इह

पूज्यानाम्=तीर्थ-कृताम्,

आशातना च

एवम्=अ-कृत-कृत्यत्वा-ऽऽपादनेन ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६२ ॥

तअ-ऽहिग-णिवत्तिए गुण-ऽंतरं णऽत्थि एत्थ णियमेणं ।

इय एय-गया हिंसा स-दोसमो होइ णायव्वा." ॥ १६३ ॥

तद्,

अधिक-[धिकृत] निवृत्त्या=हेतु-भूतया

गुणा-ऽन्तरम्

न

इय (इति)

एतद्-गता=पूजा-ऽऽदि-गता

हिंसा

अस्ति

अत्र

नियमेन = पूजा-ऽऽदौ ।

स-दोषैव

भवति

ज्ञातव्या = कस्यचिदऽनुपकारात् "

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६३ ॥

‡ अत्रोत्तरम्, :-

"उवगारा-ऽ-भावे वि हु चिंता-मणि-जलण-चंदणा-ऽऽईणं ।

विहि-सेवगस्स जायइ तेहिंतो सो. पसिद्धमिणम्". ॥ १६४ ॥

‡ उपकारा-ऽ-भावेऽपि=[विषया-ऽऽदेः]

चिन्ता-मणि-ज्वलन-चन्दना-ऽऽ

दिभ्यः=सकाशात्

विधि-सेवकस्य=पुंसः

जायते

तेभ्यः=एव

सः=उपकारः,

प्रसिद्धमेतद् = लोके," इति ॥१६४॥

इय कय-किच्चेहिंतो तबभावे णऽत्थि कोइ वि विरोहो ।
एत्तोच्चिय ते पूजा. का खलु आसायणा तीए ? ॥ १६५ ॥

एषम्

कृत-कृत्येभ्यः = पूज्येभ्यः सकाशात्

तद्-भावे = उपकार-भावे

अत एव = कृत-कृत्यत्वाद् गुणाद्

ते = भगवन्तः

[एवं च-]

का

खलु

नाऽस्ति

कश्चिदऽपि

विरोधः, इति ।

पूज्याः = एव ।

आशातना

तया = पूजया ? ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६५ ॥

अहिगरण-णिविती वि इहं, भावेण ऽहिगरणा णिवितीओ ।
तदंसण-सुह-जोगा गुण-ऽंतरं तीए परिसुद्धं ॥ १६६ ॥

‡ अधिकरण-निवृत्तिरऽपि

भावेन

तद्-दर्शने शुभ-योगात्

गुणा-ऽन्तरम्

अत्र = पूजा-ऽऽदौ,

अधिकरणान्निवृत्तेः = कारणात् ।

तस्याम् = पूजायाम्

(परिशुद्धम्) । इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६६ ॥

ता, एय-गया चेवं (व) हिंसा "गुण-कारिणी" त्ति विण्णेया ।

तह, भणिय-णायओ च्चिय एसा अप्पेह जयणाए ॥ १६७ ॥

तत् = तस्मात्,

"एतद्-गताऽपि = पूजा-गताऽपि

एवम् (व)

हिंसा

"गुण-कारिणी"

इति

विज्ञेया ।

तथा,

भणित-न्यायतश्च

एव=अधिक-निवृत्त्या

एषा = हिंसा

अल्पा

इह यतनया । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१६७

तह, संभवंत-रूवं सव्वं सव्व-ण्णु-वयणओ एअं ।

तं णिच्छिअं [क] हिआ-ऽऽगम-पउत्त-गुरु-संपयाएहिं ॥१६८

‡ तथा,

संभवत्-स्वरूपम्

सर्वम्

तत्

निश्चितम्

सर्व-ज्ञा वचनतः

एतत् ।

[कथिता-] हिता-ऽऽगम-प्रयुक्त-गुरु

संप्रदायेभ्यः

[तं णिच्छिअं [क] हिआ-ऽऽगम- पउत्त-गुरु-संपयाएहिं.

एतद् = यदुक्तम् ,

तत्

निश्चित्य

सर्व-ज्ञा-ऽवगत-

कथिता-ऽऽगम-प्रयुक्ता-ऽ-निवारित-

गुरु-संप्रदायेभ्यः = सकाशात् ॥१६८॥

“वेय-वयणं तु णेवं, अ-पोरुसेयं तु तं मयं जेणं ।

इअम-ऽच्च-ऽ-त-विरुद्धं “वयणं च” “अ-पोरिसियं च” ॥१६९॥

‡ वेद-वचनं तु न

अ-पौरुषेयमेव

तत्

इदम्

यदुत, :—

“वचनं च”

एवम् = संभवत्-स्वरूपम् ,

मतम्, —

येन ।

अत्य-ऽन्त-विरुद्धम् = वतंते,

“अ-पौरुषेयं च” ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥१६९॥

‡ एतद्-भावनायायाऽऽह, :-

जं, “वुच्चइ” त्ति “वयणं.” पुरिसा-ऽभावे अ णेवमेअं, ति. ।
ता तस्सेवाऽ-भावो णियमेण अ-पोरिसेयव्वे. ॥ १७० ॥

यद्=यस्मात्,
“उच्यते” इति
पुरुषा-ऽभावे तु
तत्,
तस्यैव = वनस्यैव
अ-भावः

“वचनम्” = [अयमऽन्व-ऽर्थः]
इत्य-ऽन्व-ऽर्थ-संज्ञा ।

नैवमेतत् = “नोच्यते” इत्य-ऽर्थः ।

नियमेन,
अ-पौरुषेयत्वे = सति आपद्यते ॥ १७० ॥

तव्वावार-विरहिअं ण य कत्थइ सुच्चइ इहं वयण. ।
सवणे वि य, णाऽऽसंका अ-दिस्स-कत्तुब्भवाऽवेइ.” ॥ १७१ ॥
[तव्वावार-विउत्तं ण य कत्थइ सुव्वई ह तं वयणं. ।]

‡ तद्-व्यापार-विरहितम् = [शून्यम्]

न च कदाचित् = न [क्वचित्]

श्रूयते

‡ श्रवणेऽपि च = [सति],

न

आशङ्का

इह = लोके

[तद्]

वचनम् ।

अ-दृश्य-कर्तृद् भवा

अपैति, = प्रमाणा-ऽभावात् ।”

इति-गाथाऽर्थः ॥ १७१ ॥

“अ-दिस्स-कत्तिगं णो अण्णं सुव्वइ, कहं णु आसंका ?” ।
सुव्वइ पिसाय-वयणं, कयाइ, एअं तु ण सदेव. ॥ १७२ ॥

‡ “अ-दृश्य-कर्तृकम्

नो=नैव

अन्यत् *

श्रूयते,

कथं-च (तु)

आशङ्का ? = “वि-पक्षा-ऽदृष्टेः,”

इत्य-ऽर्थः ।”

‡ अत्राऽऽह, :—

“श्रूयते

पिशाच-वचनम् ।

‡ कदाचित् = कथंचन, लौकिकम् [एतत्]

‡ एतत्तु=वेदिक [वेद-वचन]मऽ-पौरुष्येम्
न

सदैव
श्रूयते’ ॥ १७२ ॥

‡ यथा-ऽभ्युपगमे दूषणमाऽऽह, :—

“वण्णा-ऽऽद-ऽ-पौरुसेयं.” “लोइअ-वयणाण ऽवीह सव्वेसिं.।
वेयम्मि को विसेसो? जेण तहिं एस ऽ-सग्गहो.” ॥१७३॥

‡ “वर्णा-ऽऽदि

अ-पौरुष्येम्,”

‡ “लौकिक वचनानामऽपि
इह

सर्वेषाम् = वर्णा [वर्ण-सत्त्वा-]-ऽऽदि-
वाचकत्वा-ऽऽदेः पुरुषैरऽ-करणात्
[रऽ-विकरणात्] ।

वेदे

को विशेषः ?

येन,

एषः

तत्र—

अ-सद्-ग्रहः=अ-पौरुष्यत्वा-ऽ-सद्-ग्रह,
इति’ ॥ १७३ ॥

“ण य णिच्छओ वि हु तओ जुज्जइ पायं कंहं चि, सण्णाया.।
जं तस्स ऽत्थ-पगासण-विसएह अइंदिया सत्ती. ? ॥१७४॥

‡ “न च

युज्यते प्रायः

निश्चयोऽपि

क्वचित्=वस्तुनि

ततः = वेद-वाक्यात्

सन्-न्यायात् ।

यद् = यस्मात् ,

इह = प्रक्रमे

तस्य=वेद-वचनस्य

अतीन्द्रिया

अर्थ-प्रकाशन-विषया

शक्तिः ? इति-गाथा-ऽर्थः ॥१७४॥

णो पुरिस-मित्त-गम्मा तद-ऽतिससो वि ण बहु-मआं तुम्हं ।
लोइअ-वयणेहिंता दिट्ठं च कंहिं वि [चि] वेहम्मं । ॥ १७५ ॥

‡ न [नो]	पुरुष-मात्र-गम्यां=एषा ।
तद-ऽतिशयोऽपि	बहु-मतः
न	युष्माकम्=अतीन्द्रिय-दर्शी, ।
लौकिक-वचनेभ्यः=सकाशात्	कथंचित् [कथमऽपि]
दृष्टं च	वैधर्म्यम् ?=वेद-वचनानाम् ।”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १७५ ॥

ताणीह पोरिसेयाणि, * अ-पोरिसेयाणि वेय-वयणाणि ।
सग्गुव्वसी-प्पमुहाणं दिट्ठो तह अत्थ-भेओ वि । ॥ १७६ ॥

‡ “तानि	पोरुषेयाणि=लौकिकानि ।”
इह	
“अ-पौरुषेयाणि	वेद-वचनानि”

इति वैधर्म्यम् ।

‡ “स्वर्गोर्बिशी-प्रमुखानाम्=शब्दानाम्	तथा
दृष्टः	अर्थ-भेदोऽपि = [अप्सरोर्व्या- ऽऽदि-रूपः] ?

“एवं च—

य एव लौकिकाः, त एव वैदिकाः ।

स एवेषामऽर्थः, इति ।

यत् किञ्चिदेतद्” ॥ १७६ ॥

“ण य तं स-हावओ च्चिय स-ऽत्थ-पगासण-परं पईओ व्व ।
समय-विभेआ-ऽ-जोगा, मिच्छत्त-पगास-जोगा य ॥ १७७ ॥

‡ न च

तद् = वेद-वचनम्

स्व-भावतः

“कुतः ?” इत्याऽऽह, :—

समय-विभेदा-ऽ-योगात् = संकेत-
भेदा ऽ-भावात्,

एव

स्वा-ऽर्थ-प्रकान-परम्,

प्रदीपवत् ।

मिथ्यात्व-प्रकाश-योगाच्च = “क्वचिदे-
तदा-ऽऽपत्तेः” इति-भावः ॥१७७॥

‡ तदाऽऽह, :—

इन्दीवरम्मि दीवो पगासद् रक्तयं अ-संतं पि, ।

चंदो वि पिअ-वत्थं “धवलं” सि, ण [य] णिच्छेओ तत्तो ॥१७८॥

इन्दीवरे

दीपः

प्रकाशयति

चन्द्रोऽपि

पीत-वस्त्रम्

न

निश्चयः

रक्तताम्

अ-सतीमऽपि,

“धवलम्” इति = प्रकाशयति ।

ततः = वेद वचनात्-व्यभिचारिणः ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १७८ ॥

एवं णो कहिया-ऽऽगम-पओग-गुरु-संपयाय-भावो ऽपि, ।

जुज्जइ सुहो इहं (अं) खलु णाएणं, छिन्न-मूलत्ता ॥१७९॥

‡ एवम् ,

न

कथिता-ऽऽगम-प्रयोग-गुरु-संप्रदाय-

भावोऽपि = प्रवृत्तय-ऽङ्ग-भूतः

(शुभः),

यतः—

इह खलु = वेद-वचने

न्यायेन,

छिन्न-मूलत्वात् = "तथा-विध-वचना-S-संभवात् ।"

इति-गाथा-Sर्थः ॥ १७९ ॥

“ण कयाइ इओ कस्सइ इह णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि ।
जाओ.” त्ति. कहइ एवं जं सो तत्तं, स वामोहो. ॥१८०॥

‡ “न

कदाचित्

अतः = वेद-वचनात्

कस्यचिद्

इह

कथयति

एवम् = सति

यद्

असौ = वैदिकः

निश्चयः

एव

क्वचिद्

वस्तुनि

जातः”

इति ।

तत्त्वम्,

सः

व्यामोहः = स्वतोऽप्यऽज्ञात्वा कथनात्

[ऽप्यऽज्ञत्वात्] ॥ १८० ॥

तओ अ आगमो जो विणेय-सत्ताण, सो वि एमेव ।
तस्स पओगो चेवं, अ-णिवारणं च नियमेणं. ॥१८१॥

‡ ततश्च = वैदिकादऽर्थात् [वैदिका-

ऽऽचार्याद्

आगमः

यः = व्याख्या-रूपः

तस्य = आगमा-Sर्थस्य

प्रयोगः

अ-निवारणं च

विनेय-सत्त्वानाम् = संबन्धी,

सः

अपि

एवमेव = व्यामोह एव ।

च

एवमेव = व्यामोह एव ।

नियमेन = व्यामोह एव ।

इति-गाथा-Sर्थः ॥ १८१ ॥

णेवं परंपराए माणं एत्थ गुरु-संपदाओ ऽवि ।

रूव-विसेस-ट्टुवणे जह जच्च-ऽधाण सव्वेसिं ॥ १८२ ॥

‡ न

एवम्

परंपरायाः

निदर्शनमाऽऽह, :—

रूप-विशेष-स्थापने = सितेतरा-ऽऽदि-

रूप-विशेष-स्थापने

मानम्,

अत्र = च व्यतिकरे

गुरु-संप्रदायोऽपि,

यथा

जात्य-ऽन्धानाम्

सर्वेषाम्=अना-ऽऽदि मताम् ॥ १८२ ॥

‡ परा ऽभिप्रायमाऽऽह, :—

“भवतो वि य सव्व-ण्णू सव्वो आगम-पुरस्सरं जेणं, ।

तो सों अ-पोरुसेओ, इयरो वा णा ऽऽगमो जो उ.” ॥ १८३ ॥

“भवतोऽपि च,

सर्व-ज्ञः

सर्वः

आगम-पुरस्सरः,

येन=कारणेन ।

“स्वर्ग-केवला-ऽर्थिना तपो-ध्याना-ऽऽदि-कर्त्तव्यम् ।”

इति-आगमः, अतः प्रवृत्तेः, इति ।

तद्,

असौ

अ-पौरुषेयः ।

इतरः = अना-ऽऽदिमान् सर्वज्ञः

[अना-ऽऽदिमत्, सर्व ज्ञ-साधनत्वात्]

नाऽऽगमादेव=कस्य चित् तमऽन्त-

रेणाऽपि भावात् ।”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १८३ ॥

‡ अत्रोत्तरम्, :—

णोभयमऽवि, जमऽणा-ऽऽई वीय-ऽकुर-जीव-कम्म-जोग-समं, ।

अह व ऽत्थतो उ एवां, ण वयणओ, वत्त-ऽहीणं तं ॥ १८४ ॥

न = नेतदेवम्

यद् = यस्माद्,

अना-ऽऽदि

“न हि—

अत्र—

उभयमऽपि = आगमः, सर्वं ज्ञञ्च ।

बीजा-ऽङ्कुर-जीव-कर्म-योग-समम् ।

“इदं पूर्वम्, इदं न ।” इति व्यवस्था ।

ततश्च—“यथोक्त-दोषा-ऽभावः ।”

‡ अथवा,

अर्थत एव

एवम् = बीजा-ऽङ्कुरा-ऽऽदि-न्यायः

सर्व एव ।

“कथञ्चिदाऽऽगममाऽसाद्य, सर्वं ज्ञो जातः, तद-ऽर्थश्च तत्साधकः ।”

इति—

न वचनतः = न वचनमेवाऽऽश्रित्य,

“मरु-देव्या-ऽऽदीनां प्रकारा-ऽन्तरेणाऽपि भावात् ।

‡ तद् = वचनम्

वक्त्र-ऽधीनम्,

“न तु

अना-ऽऽद्यऽपि, वक्तारमऽन्तरेण वचन-प्रवृत्तेर-ऽयोगात् [उपाया-ऽन्तरा-ऽभावात्]

तद-ऽर्थ-प्रतिपत्तिस्तु—

क्षयोपशमा-ऽऽदेर-ऽविरुद्धा, तथा-दर्शनात् ।”

एतत् सूक्ष्म-धिया भावनीयम् ॥ १८४ ॥

“वेय-वयणम्मि सव्वं णाएणा-ऽ-संभवांत-रूवं जं ।

ता,इयर-वयण-सिद्धं वत्थु क्हं सिज्झइ ततो ?” ॥१८५॥

‡ वेद वचने

सर्वम् = आगमा-ऽऽदि,

न्यायेन

अ-संभवत्-रूपम्,

यद् = यस्मात् ।

तत् = तस्मात् ,

इतर-वचन-सिद्धम् = सद्-वचन-सिद्धम्

वस्तुः = हिंसा-दोषा-ऽऽदि

कथम्

सिध्यति

ततः = वेद वचनाद् ? ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १८५ ॥

ण हि रयण-गुणा ऽ-रयणे कया-चिद् ऽपि हौंति उवल-साहम्मा.

एवं वयण-ऽन्तर-गुणा ण हौंति सामण्ण वयणम्मि. ॥ १८६ ॥

न हि

रत्न-गुणाः = शिरः शूल-शमना-ऽऽदयः

अ-रत्ने

कदाचिद् ऽपि

भवन्ति

उपल-साधर्म्यात् ।

‡ एवम्—

वचना-ऽन्तर गुणाः = हिंसा-दोषा-ऽऽदयः

न भवन्ति

सामान्य-वचने = [विशेष-गुणा-ऽ-
योगात्] ॥ १८६ ॥

तो एवं सण्-णाओ ण बुहेण अ-ट्ठाण-ट्ठावणाए उ ।

सइ लहुओ कायव्वो चास-पंचास-णाएणं. ॥ १८७ ॥

‡ तद्,

एवम्—

सन्-न्यायः = विशेष वचनतः

न

बुधेन

अ-स्थान-स्थापनया = [वचना-ऽन्तरे
नियोगेन]

सदा

लघुः

कर्तव्यः ।

[“कथम् ?” इत्याऽऽह, :—

“चास-पञ्चाशन्-न्यायेन (?) =] अ-संभविनोऽ-संभव-प्रदर्शन-गत्या (?) ॥ १८७ ॥

‡ तत्र युक्तिमाऽऽह, :—

तह, वेदे च्चिय भणियं सामण्णेणं, जहाः-“ण हिंसिञ्जा- ।
भूआणि.” फलुद्देसा पुणो य “हिंसज्ज.” तत्थेव. ॥ १८८ ॥

तथा, वेदे एव		भणितम् सामान्येन=उत्सर्गेण,
यथा, :- “न		हिंस्यात् भूतानि ।”
फलोद्देशात् पुनश्च		“हिंस्यात्” तत्रैव = भणितम् ।

“अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः ।” इति । इत्य-सर्थः ॥ १८८ ॥

ता, तस्स पमाणत्ते वि एत्थ णियमेण होइ दोसु.” त्ति-
फल-सिद्धिए वि, सामण्ण-दोस-विणिवारणा-ऽ-भावा. ॥ १८९ ॥

‡ ‘ तत्, तस्य = वेदस्य प्रमाणत्त्वेऽपि, अत्र		नियमेन = चोदनायास् भवति दोषः” इति ।
---	--	--

फल-सिद्धावऽपि = सत्यास् ।

“कृतः ?” इत्याऽऽह, :-

सामान्य-दोष-निवारणा-ऽ-भावात् = औत्सर्गिक-वाक्या-सर्थ-दोष-प्राप्तेरेव ।

इति-गाथा-सर्थः ॥ १८९ ॥

‡ इहैव निदर्शनमाऽऽह, :-

जह, वेज्जगम्मि दाहं ओहेण निसेहिउं, पुणो भणियं, :- ।

“गंडा-ऽऽइ-खय-णिमित्तं करेज्ज विहिणा तयं चेव.” ॥ १९० ॥

यथा, वैद्यके,
दाहम्-अग्नि-विकारम्
(पुनः)

‘ गण्डा-ऽऽदि-क्षय-निमित्तम् =
‘व्याध्य-ऽपेक्षया’ इत्य-ऽर्थः

कुर्याद्

ओघेन=उत्सर्गतः

निषिध्य=दुःख-करत्वेन,

भणितम्=तत्रैव फलोद्देशेन, :—

विधिना

तमेव = दाहम् । ”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९० ॥

ततो वि किरमाणो ओह-णिसेहुब्भवो तर्हि दोसो ।

जायइ फल-सिद्धि ए वि, एवं इत्थ ऽवि णायव्वां ॥१९१॥

‡ ततोऽपि=वचनात्

क्रियमाणे=अपि दाहे

ओघ-निषेधोद् भवः=“ओघ-निषेधाद्
भवति” औत्सर्गिक-निषेध-विषयः

तत्र

‡ एवम्—

अत्र=वेदे

दोषः=दुःख-करण लक्षणः

जायते

फल-सिद्धौ=गण्ड-क्षया-ऽऽदि-रूपायां
सत्याम्

अपि ।

अपि

विज्ञेयम् ।

“चोदनातोऽपि प्रवृत्तस्य फल-भावेऽप्युत्सर्ग-निषेध-विषयो दोषः ।”

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९१ ॥

कयमित्थ पसंगेणं. जहोचिया चेव दव्व-भाव-त्थया ।

अण्णो-ऽण्ण-समणु-विद्धा णियमेणं हौति णायव्वा ॥१९२॥

‡ अत्र = * द्रव्य-स्तव-विचारे

कृतम्

प्रसङ्गेन ।

‡ यथोचितावेव
द्रव्य-भाव-स्तवौ
अन्योऽन्य-समऽनुविद्धौ = प्रथम-
(प्रधान)-गुण-भावेन

[नियमेन
भवतः
ज्ञातव्यौ ।

अन्यथा, स्व-रूपा-ऽभावः] ॥१९२॥

‡ [अनयोर्विधिमाऽऽह, :—]

अप्प-विरियस्स पढमो, सह-कारि-विसेस-भूअमो सेओ. ।

इयरस्स बज्झ-चाया इयरो च्चिय. एस परम-ऽत्थो. ॥१९३॥

अल्प-वीर्यस्य = प्राणिनः

प्रथमः = द्रव्य-स्तवः

सह-कारि-विशेष-भूतः = [वीर्यस्य]

अतः—

श्रेयान् ।

इतरस्य = बहु-वीर्यस्य साधोः

बाह्य-त्यागात्=बाह्य-द्रव्य-स्तव(?) त्यागे

इतरः

एव = श्रेयान्, “भाव-स्तवः” इति ।

‡ एषः

परमा-ऽर्थः = अत्र-क्रममाऽश्रित्य

द्रष्टव्यः ॥ १९३ ॥

‡ विपर्यये दोषमाऽऽह, :—

दव्व-त्थयं पि काउं ण तरइ जो अप्प-विरिअत्तेणं, ।

परिसुद्धं भाव-त्थयं काही सो. ऽ-संभवो एस. ॥१९४॥

द्रव्य-स्तवमऽपि

कर्तुंम् = औचित्येन

न

शक्नोति

यः = [सत्त्वः]

अल्प-वीर्यत्वा-ऽऽदेः = [अल्प-वीर्य-
त्वेन हेतुना],

“परिशुद्धम्

भाव-स्तवम् = “यथोक्तम्” इत्य-ऽर्थः

करिष्यति= ” इति,

अ-संभवः

एषः=द(ब)ला-ऽभावात् ॥ १९४ ॥

‡ तदाऽऽह, :—

जं सो उक्लिष्टयुगं अविक्खइ विरियं इहं णियमा ।

णहि पल-सयं पि वोढुं अ-समत्थो पव्वायं वहइ. ॥१९५॥

[यद्,
असौ = भाव-स्तवः
उत्कृष्टतरम्
अपेक्षते

वीर्यम् = शुभाऽऽत्म-परिणाम रूपम्
इह
नियमात् ।

न हि—
पल-शतमऽपि
वोढुम्

अ-समर्थः = मन्द वीर्यस्सत्त्वः,
पर्वतम्
वहति ।]

“भाव-स्तवोचित-वीर्य-प्राप्त्युपायोऽपि द्रव्य-स्तवः एव,
न च प्रतिमा-पालनवदऽ-नियमः ।

“जुत्तो पुण एस कमो ।” इत्या-ऽऽदिना, द्रव्या-ऽऽदि-विशेषेण नियमनात्,
गुण-स्थान-क्रमा-ऽ व्यभिचाराच्च, ” इति दिग् ।

“अत्र-पल-शत-तुल्यः-द्रव्य-स्तवः ।

पर्वत-तुल्यस्तु भाव-स्तवः” इति रहस्यम् ॥ १९५ ॥

‡ उक्तमेव स्पष्टयति, :—

जो बज्झ-च्चाएणं णो इत्तरियं पि णिग्गहं कुणइ, ।

इह अप्पणो सया से सव्व-च्चाए कहं कुज्जा ? ॥१९६॥

यः
बाह्य-त्यागेन = बाह्य-चित्त-विषय-
व्ययेन
इत्तरमऽपि

निग्रहम्
न करोति = वन्दना-ऽऽदौ
इह
आत्मनः,

क्षुद्रः

सदा असौ = यावज्जीवम्

सर्व-त्यागेन

कथम्

कुर्यात् ?

“आत्मनो निग्रहम्” ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९६ ॥

‡ अनयोरेव गुरु-लाघव-विधिमाऽऽह, :—

आरंभ-च्चाएणं नाणा-ऽऽइ-गुणेषु वड्ढमाणेषु ।

द्व-त्थय-परिहाणी वि ण सोइ दोसाय परिशुद्धा ॥१९७॥

आरम्भ-त्यागेन = हतुना

ज्ञाना-ऽऽदि गुणेषु

वर्द्धमानेषु = सत्सु,

द्रव्य-स्तव-हानिः

अपि

तत्कर्तुः

दोषाय

न भवति;

परिशुद्धा = सा-ऽनुबन्धा ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९७ ॥

‡ इहैव तन्त्र-युक्तिमाऽऽह, :—

एत्तो च्चिय णिदिट्ठो धम्मम्मि चउ-व्विहम्मि वि कमोऽयं ।

इह दाण-सील-तव-भावणामए, अण्णहा ऽ-जोगा ॥१९८॥

अत एव = द्रव्य-स्तवा-ऽऽदि-भावात्

निर्दिष्टः = भगवद्भिः

धर्मे

चतुर्विधेऽपि

अन्यथा,

कमोऽयम् = वक्ष्यमाणः

इह=प्रवचने

दान-शील-तपो-भावनामये=धर्मे,

अ-योगाद् = अस्य धर्मस्य ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९८ ॥

‡ एतदेवाऽऽह, :—

संतां पि बज्झम ऽ-णिच्चं थाणे दाणं पि जो न वियरेइ, ।

इय खुद्दओ कहं सो सीलं अइ-दुद्धरं धरइ ? ॥१९९॥

अ-सीला ण य जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओ वि ।
जह-सत्तीए ऽ(अ)-तवस्सी भावेइ कहं भावणा-जालं ? ॥२००॥

सद् = [अपि] विद्यमानम्
बाह्यम् = आत्मनो भिन्नम्
अ-नित्यम् = अ-शाश्वतम्
स्थाने = पात्रा-ऽऽदौ

“इय” = एवम्
क्षुद्रः = वराकः
कथम्
असौ

अ-शीलश्च
न जायते
शुद्धस्य
यथा-शक्ति वा
अ-तपस्वी = मोह-परतया
भावयति

दानमऽपि = पिण्डा ऽऽदि
न

यः
वितरति = न ददाति, क्षौ-द्यात्,

शीलम् = महा पुरुषा-ऽऽसेवितम्
अति-दुर्द्धरम्
धारयति = ? ‘नेव’ इत्य-ऽर्थः ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९९ ॥

तपसः = मोक्षा-ऽङ्ग-भूतस्य
हृदि
विषयोऽपि ।

कथम्
भावना-जालम् ? = तत्त्वतो नेव ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ २०० ॥

एत्थ कम-दाण-धम्मो दव्व-त्थय-रूवमो गहेयव्वो ।
सेसा उ सु-परिशुद्धा णेया भाव-त्थय-स-रूवा ॥२०१॥

अन्न-क्रमे
दान-धर्मः
शेषास्तु
सु परिशुद्धाः = शील-धर्मा-ऽऽदयः

द्रव्य स्तव रूपः = एव
ग्राह्यः = अ-प्रधानत्वात् ।
ज्ञेयाः
भाव-स्त्व-रूपाः = प्रधानत्वात् ॥२०१॥

† इहैवाऽतिदेशमाऽऽह, :-

इह आगम-जुत्तीहिं य तं तं सुत्तमऽहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्व-त्थया-ऽऽइ-रूवं विवेइयव्वं सु-बुद्धीए ॥ २०२ ॥

'इय' एवम्
आगम-युक्तिभिः
तत् तत्
सूत्रम्
अधिकृत्य

धीरैः = बुद्धिमद्भिः
द्रव्य-स्तवा-ऽऽदि-रूपम्
सम्यगा-ऽऽलोच्य,
विवेक्तव्यम्
स्व-बुद्ध्या ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ २०२ ॥

‡ उपसंहारमाऽऽह, :-

एसेह थय-पइन्ना समासओ वन्निया मए तुज्झं, ।
वित्थरओ भाव-ऽत्थो इमीए सुत्ताउ णायव्वो. ॥ २०३ ॥

एषा
इह
स्तव-परिज्ञा = पद्धतिः

समासतः
वणिता
मया
युष्माकम् ।

विस्तरतः
भावा-ऽर्थः

अस्याः = स्तव-परिज्ञायाः
सूत्रात्
ज्ञातव्यः ।

इति । शिवम् ॥ २०३ ॥

जयइ थय-परिज्ञा, सार-निट्ठा, सु-वन्ना,
सु-गुरु-कय-अणुन्ना, दाण-वक्खाण गुन्ना, ।
नय-निउण पइन्ना, हेउ-दिट्ठ-ऽंत-पुन्ना,
गुण-गण-परिकिप्पा, सव्व-दोसोह सुन्ना. । १ ॥
इति स्तव-परिज्ञया किमऽपि तस्वमुच्चंस्तरां
यशो विचय-वाचकैर्यदुदऽभावि भावा-ऽर्जितम् ।
ततः कु-मत-वासना-विष-विकार-वान्तेबुं धा
सुधा-रस-पानतो भवत तृप्ति-भाजः सदा. ॥ २ ॥
तन्त्रैः किमऽन्यैर्भग्नैव भ्रान्तिः स्तव-परिज्ञया ।
ध्वस्ता पान्थ-तृषा नद्या कूपाः सन्तु सहस्रशः ॥ ३ ॥ ॥६७॥

[अष्ट-त्रिंशत्-गाथा-गत-परिष्कार-हार्दं प्रसादीकृतमाऽऽराध्य-पादैराऽऽचार्य-क्षी-विजय-नन्दन-सूरिभिः शास्त्र-वचन-गाम्भीर्य-विद्वद्-वरैः]

‡ एवं च

“आज्ञा-शुद्धं वीतराग-गामि भाव-स्तव-हेतु-अनुष्ठानम्-द्रव्य-स्तवः ।” इति निव्यूढम् ।

भाव-स्तवेऽति-व्याप्ति-वारणाय विशेष्यम् ।

अत्र—

विशेषण-द्वयम्-भाव-स्तव-हेतुता-ऽवच्छेदक-परिचायकम् ।

इति—“भाव-स्तव-हेतुत्वमेव लक्षणं सिध्यति ।”

तत्राऽऽह, :—

जं पुण एअ-वियुत्तं एग-ऽन्तेणेव भाव-सुण्णं ति ।

तं विसयम्मि वि ण तओ भाव-त्थया-ऽ-हेउओ उचिओ ॥३८॥

यत्

पुनः

अनुष्ठानम्

तद्

अनुष्ठानम्

विषये = वीत-रागा ऽऽदौ

अपि

भाव-त्थया-ऽ-हेउओ” ति ।

(भाव-स्तवा-ऽ-हेतुतः, इति)

“धर्म-पर-निर्देशात्—

भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वात् ।”

एतद्-वियुक्तम् = औचित्या-ऽन्वेषणा-ऽऽदि-शून्यम् ,

एका-ऽन्तेनैव

भाव-शून्यम्,

इति ।

न

तकः = द्रव्य-स्तवः,

उचितः—[यथा-भूतः]

“भाव-स्तवा-ऽङ्गं न ।”

(स्पष्टा-ऽन्वयः—पुनः, “यद्अनुष्ठानं एतद्-वियुक्तं (औचित्या-ऽन्वेषणा-ऽऽदि-शून्यम्) तद् अनुष्ठानं एका ऽन्तेनैव भाव-शून्यम्,” इति हेतोः विषयेऽपि-वीत-रागा-ऽऽदावपि भावस्तवा-ऽ-हेतुत्वात् न तकः (द्रव्य-स्तवः) उचितः

(भाव-स्तवा-ऽङ्गम्) भवति ॥३८॥)

१ अ-प्रधानस्तु भवत्येव ।

२ हेतु-साध्या-ऽ-विशेष-परिहाराय—

३ 'अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यो न' इति साध्यं व्याख्येयम् ।

१. अ-प्रधानो द्रव्य-स्तवस्तु भवत्येव ।

२. औचित्य-शून्यं यद्-ऽनुष्ठानम्, न तद्-ऽनुष्ठानं द्रव्य-स्तवः, भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वात् ।
यत्र यत्र भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वम्, तत्र तत्र द्रव्य-स्तवत्वा-ऽ-भावः ।
यद् भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वा-ऽ-भाववद्, तद् द्रव्य-स्तवा-ऽ-भाववद् ।
यो द्रव्य-स्तवा-ऽ-भावः, स एव भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽ-भावः । एवम्-हेतु-साध्ययोरैक्यम् ।
तत्परिहाराय—

३. अ-प्रधान-द्रव्य-स्तवः—अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्या-ऽ-भाववान्, भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽ-भाववत्वात् । (हेत्व-ऽ-भावान्) यत्र यत्र भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽ-भाववत्त्वम्, तत्र तत्र अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यत्वा-ऽ-भाववत्त्वम् ।
एवम्-यत्र यत्र भाव-स्तव-हेतुत्वम्, तत्र तत्र अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तव-व्यपदेश्यत्वम् ।
एवम्—हेतु-साध्ययोरभिन्न-विषयत्वम्

अत्र^५ —

यद्य^६ऽपि (यच्चाऽपि)—

१ शुद्धं तत्-तद्-द्रव्य-स्तव 'व्यवतीनाम् आज्ञा-'^७विशिष्टानां वा,
न भाव-स्तवत्वा-ऽ-वच्छिन्ने हेतुत्वम्, व्यभिचारात्, अन-ऽनुगमाच्च ।

४. हेतु-साध्ययोर्व्याप्ति-प्रक्रमे

५. "न शुद्धं हेतुत्वम्" इत्यऽन्वयः ।

'नाऽपि शुद्धं हेतुत्वम्' इति चाऽन्वयः ।

६. "शुद्धम्" इति हेतुत्वस्य विशेषणम् । उत्तरत्रा-ऽपि-अध्याहार्यं एव विशेष्य-विशेषण-दत्ते ।

७. प्रथमं तावत्—व्यभिचारा-ऽन-ऽनुगम-दोषयोः स्वरूपे निर्दर्शनीये भवतः,—

(१) तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमऽन्वयः ।

तद्-ऽ-भावे तद्-ऽ-भावो व्यतिरेकः ।

हेतु-सत्त्वे साध्य-सत्त्वमऽन्वयः ।

हेतु-सत्त्वे साध्या-सत्त्वं व्यतिरेकः

हेतु-सत्त्वे साध्या-स-भावः-अन्वय-व्यभिचारः

हेत्वा-स-भावे साध्य-सत्त्वम्-व्यतिरेक-व्यभिचारः ।

(२) अनेक-कारणेष्वपि कारणा-ऽवच्छेदक-धर्मस्यैकत्वमऽनुगमः ।

अनेक-कारणेषु कारणता-ऽवच्छेदक-धर्माणामऽनेकत्वमऽन-ऽनुगमः ।

(१) व्यभिचारो हेतु-गत-दोषः

(२) अन-ऽनुगमश्च व्याप्ति-गतो दोषः ।” इत्येवं मे मतिः ।

९. अत्र—

भाव-स्तवस्य हेतुताया विचारो न,

किन्तु, भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्ने हेतुता-ऽवच्छेदकत्व-स्य विचारः प्रस्तुतः ।

यावद्-भाव-स्तवैक-हेतुता-विचारः प्रस्तुतः, इति ।

१०. तेन, तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-निष्ठा न हेतुता ।

जिन-दत्तस्य आज्ञा-निष्ठ-द्रव्य-स्तवे

जिन-दत्तस्य भाव-स्तवस्य हेतुता वर्तते,

किन्तु, नाऽहं दत्तस्य भाव-स्तवस्य हेतुता ।

तेन, साध्य-सत्त्वे न हेतु-सत्त्वम्, तेन, परस्परं-व्यभिचारः ।

तथा—

तत्-तद्-भाव-स्तवे तत्-तद्-द्रव्य-स्तवस्य-कारणता,

अथवा, अनेकेषु द्रव्य-स्तवेषु भाव-स्तवस्य हेतुता, तेन, अन-ऽनुगमः ।

अनेकेषां कारणानां स्त्री-कारे कारणा-ऽऽन-ऽन्त्यम् । तेन, भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्ने साध्ये

हेतुता-ऽवच्छेदकमेकमेव न । तेन, अन-ऽनुगमः ।

“अत्र—

“आज्ञा-निष्ठानाम्” इति विशेषणं ? पक्षा-ऽन्तरं वा ? इति न निर्णीयते ।

आज्ञा-निष्ठानामपि तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-व्यक्तीनां वा हेतुत्वम् ?

भाव-स्तव-निष्ठ-साध्यता-निरूपित-अ-प्रधान-द्रव्य-स्तव-व्यावृत्त-व्यपदेश्यत्वा-ऽवच्छिन्ना हेतुता

न तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-निष्ठा, व्यभिचारात् ।

११ नाऽपि—

भाव-^{१२}स्तव-कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरिव,

^{१३}आत्मा-ऽऽभयात् ।

११. नाऽपि—

भाव-स्तव-कारणत्वेन शुद्धं हेतुत्वं तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-व्यञ्जनीनाम्, “आत्मा-ऽऽश्रयात्” इत्यऽन्वयः ।

१२. यथा, “घट-कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरऽपि आत्मा-ऽऽश्रयात्, न शुद्धं हेतुत्वम्” इत्यऽन्वयः ।

१३. आत्मा-ऽऽश्रयः-कार्य-कारण-भाव-गतो दोषः ।

अन-ऽवस्था-अन्योऽन्या-ऽऽश्रय-आत्मा-ऽऽश्रयाच्च कार्य-कारण-भाव-गता दोषाः ।

(१) कारणा-ऽन्तर-परंपरा-संततेर-ऽ-विश्रामो ऽन-ऽवस्था-दोषः ।

(२) कार्य-कारणयोः परस्परं कार्य-कारण-भावोऽन्योऽन्या-ऽऽश्रय-दोषः ।

(३) यत् कारणम्, तदेव कार्यम्,

एवम्—कार्य-कारणयोरऽभेदः-आत्मा-ऽऽश्रय-दोषः ।

अत्र —

आत्मा-ऽऽश्रय-दोषस्य प्रयोजनमिति ।

घट-कार्ये दण्डस्य कारणता तत्-तद्-दण्डत्वेन नैव, तत्-तद्-दण्डत्वेन कारणतायामाऽऽत्मा-ऽऽश्रय-दोषः ।

घटत्वा-ऽवच्छिन्न-कार्यस्य—

तत्-तत्-शाम-रक्त-दण्डेषु कारणतायाः सिद्धौ, दण्डे घट-कारणतायाः सिद्धिः स्यात् ।

दण्डेषु घट-कारणतायाः सिद्धौ सत्यां दण्डे कारणतायाः सिद्धिः स्यात् ।

घटत्वा-ऽवच्छिन्ने कार्ये केन धर्मेण दण्डस्य कारणता ?

एवम्—कारणताया अ-सिद्धौ-आत्मा-ऽऽश्रय-दोषः ।

एवम् —

द्रव्य-स्तवे कारणतायाः सिद्धौ, भाव-स्तवस्य कारणता-सिद्धिः स्यात् ।

भाव-स्तवस्य कारणतायाः सिद्धौ, द्रव्य-स्तवे कारणतायाः सिद्धिः स्यात् ।

भाव-स्तव-द्रव्य-स्तवयोः कार्य-कारण-भावोऽनिश्चितः, तेन-अन्योऽन्या-ऽऽश्रय-दोषः ।

१५ तथाऽपि—

अ-प्रधान-१५ व्यावृत्तेन द्रव्य स्तवत्वेन

अ-खण्डोपाधिना तत्त्वम्,

१६ गडुच्या-ऽऽदीनाम्—

ज्वर-हरण-शक्त्येव,

शक्ति-विशेषेणैव वा ।

१४. “यद्य-ऽपि—

शुद्धं हेतुत्वं न, व्यभिचारात्, अन-ऽनुगमाच्च

ना-ऽपि शुद्धं हेतुत्वम्-आत्मा-ऽऽश्रयात् ।

तथा-ऽपि—

अ-खण्डोपाधिना तत्रम्-शुद्ध-हेतुत्वम् ।

अथवा—

“शक्ति-विशेषेणैव शुद्धं हेतुत्वम्” इति-विषय-संबन्धः ।

१५. भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्न-कार्यता-निरूपिता अ-प्रधान-व्यावृत्त्वा-ऽवच्छिन्न-द्रव्य-स्तव-

निष्ठा हेतुता, अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्व-रूपा-ऽ-खण्डोपाच्य-ऽवच्छिन्ना

यथा-घटे दण्डस्य कारणता दण्डत्व-जाति-रूपेण—

तथैव—

अ-प्रधान-व्यावृत्ता-द्रव्य-स्तवत्वेन ।

द्रव्य-स्तवत्वं न जातिः,

किन्तु, अ-खण्डोपाधिः, तद्-रूपतया कारणता,

न तु द्रव्य-स्तवत्वा-ऽवच्छेदकैः कैर-ऽपि धर्मा-ऽन्तरैः ।

१६. यथा—

गङ्गुची-गो-क्षुरा-ऽऽदि-द्रव्याणां सर्वेषां समूह-रूपैर्गौषध-द्रव्येण ज्वरस्य हरणं भवति ।

सर्व-ज्वर-हर-द्रव्य-समूहे एका ज्वर-हरण-रूपा विशिष्टा शक्तिः प्रादुर्भवति ।

तेन शक्ति-विशेषेण ज्वरस्या-ऽपहरणं भवति ।

तस्मात्,

ज्वर-नाशे तत्-तद्-द्रव्यस्य तत्-तद्-द्रव्य-रूपेण न कारणता,

किन्तु, स-कल-द्रव्य-समूह-निष्ठ-शक्ति-विशेष-रूपेणैव कारणताऽवगन्तव्या ।

एवम्—

अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वा-ऽवच्छेदका यावन्तो धर्माः, तैर्न कारणता ।

किन्तु, स-कला-ऽवा-ऽन्तर-धर्मा-ऽवच्छिन्ना भाव-स्तव-जनिका विशिष्टा शक्तिः

अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवे ।

तेन-शक्ति-विशेषेण कारणता ।

अर्थात्--अ-खण्डोपाधिना शुद्धं हेतुत्वं भाव-स्तवे अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन ।

अथवा,

द्रव्य-स्तव-निष्ठ-शक्ति-विशेषेण भाव-स्तव-निष्ठ-कार्यताया अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तव-

निष्ठ-कारणता ।

१० विशेषण-द्वयं तु परिचायकम् ।

१७. तेन--

“आज्ञा-शुद्धम्” “वीत-राग-नासि”

एते द्वे विशेषणे हेतुता-ऽवच्छेदक-परिचायके, न तु हेतुता-ऽवच्छेदके,

तेन--न तु लक्षणा-ऽन्तर्गतत्वेन दोष-व्यावृत्त्य-ऽर्थे ।

इति ।

श्री-जिना-ऽऽज्ञा-धारकस्व-सूचक-स-शिख-केसर-चन्दन-तिलक-युक्त-
ललाट-महत्त्वम् ।

तिलक-युत-ललाट-भ्राजमानाः स्व-भाग्या ऽ

ङ्कुरमिव समुदीतं दर्शयन्ते जनानाम् ।

स्फुरद-ऽ-गुरु सुमा-ऽऽली-सौरभोद्गार-साराः

कृत-जिन वर पूजा देव रूपा महेश्याः ॥ १ ॥

आनन्दमाऽन्तरमुदारमुदाहरन्ती

रोमा-ऽञ्चिते वपुषि स-स्पृहमुल्लसन्ती ।

पुंसां प्रकाशयति पुण्य-रमाः समाधि-

मौभाग्यमऽर्चन-कृतां निभृता दृगेव ॥ २ ॥

स्पृशयति तिलक शून्यं नैव लक्ष्मीर्ललाटं

मृत-सु-कृतमिव श्री-शौच संस्कार हीनम् ।

अ-कलित-भजनानां वल्कलान्येव वस्त्रा-

प्यपि च शिरसि शुक्लं छत्रं मऽप्यग्र-भारः । ३ ॥

अकृताऽर्हत्पूजस्य (?) तस्करस्येव लोचने ।

शोचनेनैव संस्पृष्टे गुप्त-पातक-शङ्किते ॥ ४ ॥

[प्रतिमा-शतक-वृत्तिः-६८]

“ॐ” नमः

न्याय-विशारद-न्याया-ऽऽचार्य-श्री-मद्-घशो-विजयजी-वाचक-
वर-विरचित-अवचूरिका-सहित-अ-ज्ञात-नामो-
श्री-पूर्व-धर-पूर्वा-ऽऽचार्य-भगवन्त-विरचित—

स्तव – परिज्ञा

-- की --

[हिन्दी] भावाऽर्थ-चन्द्रिका ।

★

योजक-प्रकाशक-संपादकः—
प्रभुदास बेचरदास पारेख
राजकोट

★

अथ स्तव-परिज्ञया प्रथम-देशना-देश्यया

गुरोर्गरिम-सारया स्तव-विधिः परिस्तूयते ।

इयं खलु समुद्धृता सरस-दृष्टि-वादा-ऽऽदितः

श्रुतं निर-ऽघमुत्तमं समय-वेदिभिर्भण्यते ॥ १ ॥

अब,

में—

श्री-तीर्थंकर प्रभु की प्रथम-देशना रूप और
गंभीर सार से भरपूर

श्री स्तव परिज्ञा-नामक ग्रन्थ द्वारा (द्रव्य और भाव रूप) स्तव का विधि-
का प्रारंभ करता है ।

इस (स्तव-परिज्ञा) ग्रन्थ का उद्धार श्री दृष्टिवाद आदि से किया गया है,
और

श्री शास्त्रज्ञ महापुषो का कहना है कि—

“यह निर्दोष और उत्तम शास्त्र-ग्रन्थ है” ॥ १ ॥

“स्तव-परिज्ञा” ग्रन्थ खूब उपयोगी है ।” यह समझकर,
(श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी विरचित) पठच वस्तु शास्त्र में जिस प्रकार
देखने में आया है, उसी प्रकार से—

इस प्रकार लिखा जाता है,—

(१ प्रास्ताविक)

“एअमिहमुत्तम-सुअं ‘आइ’-सहाओ थय-परिण्णा-ऽऽई.” ।

“वण्णिज्जइ जोए थओ दु-विहो वि गुणा ऽहि-भावेण.” ॥१॥

‡ यहाँ—

“यह उत्तम शास्त्र है,”

यह आदि शब्द से “स्तव-परिज्ञा” आदि प्राभृतों को समझने चाहिये ।

(२ प्रारंभ)

‡ जिस ग्रन्थ में—

गौण और मुख्य भाव से दोनों प्रकार के भी स्तवों का वर्णन हो,
उसका नाम स्तव परीज्ञा है ॥ १ ॥

पाठकों को सूचना— पंच वस्तु ग्रन्थ गत विशेषता [] इस प्रकार के कोष्टक में,
और—संपादकीय विशेषता () इस प्रकार के कोष्टक में—प्रायः निर्दिष्ट है । संपादक ।

विशेषार्थ—

१. उत्तम अर्थों का वर्णन जिसमें पाया जाय, उसे उत्तम शास्त्र कहा जाता है ।
२. “स्तव-परिज्ञा” आदि विशेष प्रकार के प्राभृत है ।
- ‡ ३. पंच-वस्तु शास्त्र के अनुज्ञा अधिकार में उत्तम शास्त्रों की गणना में स्तव-परिज्ञा और ज्ञान-परिज्ञा प्राभृतों का निर्देश किया गया है ।
- ‡ ४. “स्तव परिज्ञा का भावार्थ क्या है ?”
इस प्रश्न का उत्तर—“गौण रूप से और प्रधान रूप से, द्रव्य स्तव शब्द से वाच्य, और भाव स्तव शब्द से वाच्य है—कहे जाते हैं, उन दोनों का वर्णन जिस ग्रन्थ रचना में किया गया हो, वह स्तव परिज्ञा है ।

‡ यही आगे बताया जाता है,—

(३ द्रव्य स्तव और भाव स्तव)

दब्बे भावे अ थओ. “दब्बे-भाव-थय-रागओ विहिणा

जिण-भवणा-ऽऽइ विहाणं.” “भाव-थओ-संजमो सुद्धो.” ॥२॥

- ‡ १. द्रव्य-स्तव और भाव स्तव दो प्रकार के स्तव है ।
- ‡ २. द्रव्य-स्तव-भाव स्तव के प्रति अनुराग से जिन मंदिर आदि को विधि पूर्वक करना, और कराना । आदि-शब्द से-जिन-बिम्ब, पूजा आदि का संग्रह समझना चाहिये ।
- ‡ ३. भाव स्तव-निरतिचार पूर्वक साधु क्रिया रूप शुद्ध संयम का पालन समझना चाहिये ॥ २ ॥

विशेषार्थ

भाव स्तव करने की इच्छा (भावना) की प्रेरणा के बल से—

“जिन-भवन-कराना” आदि प्रवृत्ति में जिस जिस प्रवृत्तियों का समावेश होता है, वे सभी द्रव्य-स्तव शब्द से व्यवहार करने योग्य है ।

(अर्थात्-द्रव्य स्तव और भाव स्तव में ही जैन धर्म के सभी आचारो का एव चरणानुयोग का पूरा समावेश हो (देखिये गाथा २०२) सकता है ।

(४ जिन भवन कराने का संक्षिप्त विधि)

“जिन-भवन-कारण-विही : शुद्ध भूमि दलं च कडाऽऽई ।

मिअगाऽणऽइ-संधाणं साऽऽसथ-बुद्धी, समासेण.” ॥ ३ ।

‡ जिन भवन कराने का संक्षेप में यह विधि है-

१. शुद्ध भूमि,
२. काष्ठादिक (शुद्ध) पदार्थ- दल ।
३. कर्म कर-मंदिर आदि के काम करने वाले कारीगर के साथ निखालस एवं स्पष्ट व्यवहार से वर्तन रखना ।
४. हृदय में स्व शुभ-भाव की वृद्धि ॥ ३ ॥

“दव्वे भावे अ तथा सुद्धा भूमी.” “पएसऽ-कीला य ।

दव्वे. “ऽ-पत्तिग-रहिया अन्नेसिं हाइ, भावे उ.” ॥ ४ ॥

‡ १. शुद्ध भूमि—

द्रव्य से और भाव से एवं शुद्ध भूमि दो प्रकार से देखी जाती है,

‡ १. तपस्वी जन के निवास योग्य और हड्डी आदि से रहित भूमि हो, वह द्रव्य से-शुद्ध भूमि ।

‡ २. भाव से शुद्ध भूमि—

जिसमें जिन मंदिर बनवाना हो, उस भूमि के आस पास में किसी को किसी तरह के दुःख की अनुभूति न हो, और अ-प्रीति न हो, अ-समाधि न हो । ४

“धम्मऽत्थमुज्जएणं सव्वस्साऽ-पत्तियं न कायव्वं.” ।

इय संजमो वि सेओ. इत्थ य भयवं उदाऽऽहरणं. ॥ ५ ॥

‡ जो धर्म करने के लिए तैयार हुआ हो, उसका कर्तव्य है, कि-सभी के लिए वह लेशमात्र भी अ-प्रीति के कारण भूत न हो ।

‡ संयम भी इसी से ही कल्याणकारी सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ।
(अ-प्रीति युक्त संयम भी कल्याणकारी नहीं)

इस विषय में खुद श्री महावीर-वर्धमान स्वामी तीर्थंकर प्रभु दृष्टान्त रूप है ॥ ५ ॥

“सो तावसा-ऽऽसमाओ तेसिं अ-अप्पत्तियं मुणेउणं, ।

परमं अ बोहि बोअं, तओ गओ हंतऽ-काले वि.” ॥ ६ ॥

‡ (गुणों के द्वेष से होने वाली एवं) परम अ-बोधि (सम्यक्त्व गुण के अभाव) के कारण (उन तापसों की) अप्रीति को (मनः पर्याय ज्ञान से) समझकर, वह भगवान ने अ-काल में भी वर्षा चातुर्मास में भी-तापस के आश्रम से विहार कर दिया था ॥ ६ ॥

विशेषार्थ

‡ वह तापस के आश्रम के कुलपतिजी प्रभु के पिता के मित्र रूप एवं पितृव्य-त्वाचा तुल्य थे । इससे चातुर्मास के लिए आग्रह किया था । किन्तु वर्षा न होने के कारण गौओं के समूह ने झोंपडी के तृण को खा डाला । निरीह प्रभु ध्यान में थे । तापसों की अप्रीति का यह कारण बन गया था । ६ इसी रीति से —

“इय सव्वेण वि सम्मं सक्कं ण-प्पत्तियं सइ जणस्स ।

णियमा परिहरियव्वं.” “इयरम्मि सत्तत्त-चिंत्ताओ.” ॥ ७ ॥

परलोक (हित) को चाहने वालों ने प्रयत्न पूर्वक जहाँ तक बने वहाँ तक-सदा के लिए, सभी जीवों की अप्रीति से अवश्य ही दूर रहना चाहिये । जहाँ पर—

अप्रीति दूर न की जा सके,

वहाँ पर—

उत्तम तत्त्व की विचारणा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

विशेषार्थ

बाह्य से—“यह मेरा ही दोष है ।”

ऐसा उत्तम तत्त्व का विचार करना चाहिये । और

अन्तर्मुख से-उदासीन रहना चाहिये ॥७॥

॥ भूमि शुद्धि समाप्त ॥

‡ २. काष्ठादिक पदार्थों की-दलों-की शुद्धि-

कडा-ऽऽई वि दलं इह सुद्धं, जं देवता-ऽऽदुपवणाओ ।

नो अ-विह्णिणोवणीअं, सयं च कारावियं जं नो. ॥ ८ ॥

श्री जित मन्दिर बनवाने में काष्ठादि-दल-पदार्थ-वही शुद्ध होती है, कि जो—

१. देवताओं आदि के वागों से—

और

२. आदि-शब्द से श्मशान आदि से लिया गया न हो,

३. अ-विधि से लिया गया न हो,

(अर्थात् बेल आदि को कष्ट पहुँचा कर न लाया गया हो ।)

४. और (ईंट आदि स्वयं पकाकर न बनाया गया हो, किन्तु दूसरों से उचित मूल्य से खरीदा गया हो) ॥ ८ ॥

तस्स वि अ इमो णेओ सुद्धा-ऽ-सुद्ध परिजाणणोवाओ, :- ।

तक्कह-गहणाओ जो सउणेयर सन्निवाओ उ. ॥ ९ ॥

और वह-काष्ठादि पदार्थों की शुद्धि और अ-शुद्धि जानने का उपाय यह समझना चाहिये,— उन पदार्थों की

१. प्राप्त करने का खरीदी-सौदा-वार्तालाप करने का

और

२. ग्रहण करने का

१. शुभ शकुनो की उपस्थिति में हो, तो शुद्धि ।

२. और अशुभ शकुनो की उपस्थिति में हो, तो-अशुद्धि ॥ ९ ॥

शुभ और अ-शुभ शकुने

नंदा-ऽऽइ-सुद्धो सद्दो, भरियो कलसो य सुन्दरा पुरिसा, ।

सुह-जोगा ऽऽइ य सउणो. कंदिय-सदा-ऽऽइ इयरा उ. ॥ १० ॥

‡ १. शुभ शकुन—१ वाजीन्त्र आदि के मांगलिक शब्द,

२ शुभ जल आदि से भरा हुआ पूर्ण कलश (घडा),

३ धर्मनिष्ठ पुरुषों का सामने दर्शन

४ लगनादि शुभ व्यवहार का योग

‡ २. अ-शुभ शकुन— रुदन आदि के शब्द, इत्यादि, ॥ १० ॥

दल शुद्धि समाप्त

‡ दल शुद्धि में विशेषता—

सुद्धस्स वि गहियस्स पसत्थ-विअहम्मि सुह-सुहुत्तेणं ।

संकामणम्मि वि पुणो विण्णेया सउणमा-ऽऽईया ॥ ११ ॥

ग्रहण किया हुआ शुद्ध काष्ठादिक पदार्थों का उपयोग भी करने के लिए प्रवेश कराने का भी, शुक्ल पंचमी आदि उत्तम दिन में

और

शुभ मुहूर्त में करना चाहिये ।

उस समय भी सुभाशुभ शकुनों को देखना चाहिये । (अर्थात्-शुभ शकुनो में उनका उपयोग करने का प्रारंभ करना चाहिये, और अशुभ शकुनो में नहीं ॥११॥

‡ ३ काम करने वालों के साथ अच्छा व्यवहार,—

कारवणे वि य तस्सिह भयगाणाऽतिसंधाणं ण कायव्वं ।

अवि याऽहिय-प्पयाण, दिट्ठा-ऽदिट्ठ-फलं जेयं ॥ १२ ॥

जिन मंदिर बनवाने के कार्य में भी-काम करने में-कार्य करने वालों को तंग नहीं करना चाहिये, और योग्य शुल्क देना चाहिये ।

और अधिक देने से निम्न लिखित प्रत्यक्ष और परोक्ष फल जानने चाहिये ॥१२॥

‡ फल बताये जाते हैं—

ते तुच्छया वराया अहिण्ण ददं उवेंति परितोसं, ।

तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहियं पकुव्वन्ति, १३ ॥

प्रत्यक्ष फल-वे कर्मकर वर्ग थोड़े में संतुष्ट रहता है, और मृदु स्वभाव का भी रहता है । अधिक देने से खूब खुशी रहते हैं । और खुशी में आकर- (मंदिर जी के) काम में पूर्व से अधिक काम करते रहते हैं । ॥ १३ ॥

(यह दृष्ट फल है)

धम्म-प्रसंसाए तह केइ निबंधिंति बोहि-आइं ।

अन्ने य लहुय-कम्मा एतोच्चिय संपबुज्झंति, ॥ १४ ॥

‡ १ परोक्ष फल-१ आत्मा में कुशल भाव होने से ।

धर्म की प्रशंसा करते करते कोई-कोई कार्यकर बोधि बीज की परंपरा को प्राप्त कर लेता है । और

२ पूर्व का पाप कर्म अल्प होने से कितनेएक कार्य कर उदारता का पक्षपाती बनकर बुझकर धर्म मार्ग भी प्राप्त कर लेते हैं ॥१४

लोगे अ साहु-वाओ अ-तुच्छ-भावेण 'सोहणो धम्मो' ।

“पुरिसुत्तम-पणीओ.” पभावणा एवं तित्थस्स ॥ १५ ॥

कंजूसपना न होने से—

“यह धर्म बहुत अच्छा है.” कि जो—“पुरुषोत्तम महापुरुषों का बतलाया हुआ है ।” “जिससे दया की प्रवृत्ति सर्वत्र फैलती है” ।

इस प्रकार से लोक में धर्म की प्रशंसा होती है, और जैन शासन की प्रभावना भी बढ़ती है ॥ १५ ॥

इस प्रकार परोक्ष फल होता है ।

कार्य करों को संतुष्ट रखने का दोनों फल कहा गया ।

‡ ४. (मन में) शुभ भाव की वृद्धि—

सा-[सु-आ]ऽऽसय-बुद्धो वि इहं भुवण-गुरु-जिणिंद-गुण-परिण्णाए ।

तब्बिब-ठावण-ऽत्थं सुद्ध-पवित्तीइ णियमेणं ॥ १६ ॥

१. “संसार रूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को उसे बचने के लिये यही एक सहारा है ।”

इस प्रकार त्रिभुज गुरु श्री जिनेश्वर भगवंतों के गुणों की योग्य समझ पूर्वक उनके प्रतिमाजी की स्थापना करने की शुद्ध प्रवृत्ति की जाती है । जो अवश्य ही शुभाशय की वृद्धि रूप है ॥ १६ ॥

“पेच्छिस्सं एत्थ अह वंदणग निमित्तमाऽऽगए साहु ।

कय-पुण्णं भगवंते गुण-रयण निही महा सत्ते ॥ १७ ॥

२. “पुण्यशाली, गुण रूपी रत्नों के भंडार, महा सात्त्विक, दर्शन करने के योग्य और मोक्ष मार्ग के साधक साधु भगवंतों—इस मंदिर में श्री जिनेश्वर देव को वंदना करने के लिए अवश्य पधारेंगे, तब मेरे को भी, इस मंदिर में उन्हीं के दर्शन करने का प्रसंग प्राप्त होगा ही” ॥ १७ ॥

पडिबुज्झिस्संति इह दृट्ठूण जिणिंद-बिम्बमऽ कलंकां ।

अण्णे वि भव-सत्ता काहिति ततो परम धम्मं ॥ १८ ॥

३. मोह रूप महा अंधकार को नष्ट करने में कारण रूप निष्कलक श्री जिन प्रतिमाजी का इस जिन मंदिर में दर्शन पाकर और भी अनेक लघुकर्मा भव्य आत्माओं प्रतिबोध पायेंगे, और संयम रूप परम धर्म को प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

“ता, एअं मे वित्तं जद-स्थ विणिओगमेति अण-स्वरयं.” ।

इय चिन्ताऽ-परिवर्द्धिया सा-[सु-आ]ऽऽसय बुद्धी उ मोक्ख-फला ॥१९॥

५. “इन कारणों से यह मेरा धन प्रशंसनीय है, कि जो-सदा इस मंदिर के काम में लगता रहता है।”

इस प्रकार की धारा प्रवाह बद्ध सतत चिन्ता, विचारणा, भावना उत्तम आशयों की वृद्धि रूप ही है ।

इसका फल मोक्ष है ही । ॥ १९ ॥

जिन मन्दिर बनवाने का संक्षिप्त विधि कहा गया ।

‡ (५ श्री जिन मंदिर बन जाने के बाद के कर्तव्य -)

निष्काइय जयणाए जिण-भवनं सुदरं, तहिं बिंबं ।

विहि-कारियमऽह विहिणा पइइविज्जा अ-संभतो ॥२०॥

“छाना हुआ पानी आदि का ही उपयोग करना” इत्यादि यतना पूर्वक सुंदर जिन मंदिर बनवाकर, उस मंदिर में—

विधि पूर्वक बनवायी हुई श्री जिनेश्वर भगवंत के प्रतिमाजी को प्रतिष्ठा स्वस्थता से विधि पूर्वक करानी चाहिये ॥ २० ॥

‡ (६ श्री जिनेश्वर देव को प्रतिमाजी को कराने का विधि)

जिण-बिंब-कारण-विहो, :-काले संपूइऊण कत्तारं ।

विह्वोचिअ-मुल्ल ऽप्पणमऽण ऽहस्स सुहेण भावेण ॥२१॥

जिन प्रतिमाजी बनवाने का विधि,—

१ बनाने वाले कारीगर की सुगंधि चूर्ण और चन्दनादि से शुभ मुहूर्त में पूजा करनी चाहिये,

२ उस पवित्र कारीगर को शुभ भाव से और सन्मान पूर्वक स्व वैभव के अनुसार मूल्य को-धन को-अर्पण करना चाहिये ॥२१॥

तारिसयस्साऽ-भावे तस्सेव हिय-ऽत्थमुज्जओ णवरं ।

णियमेइ बिंब-मोल्लं जहोचियं कालमाऽऽसज्ज ॥२२॥

३ यदि ऐसा पवित्र कारीगर न मिले तो, दूसरे प्रकार के कारीगर की बाधाओं को विधि पूर्वक दूर कर, उसके हित में तत्पर रहना चाहिये ।

और समय समय पर जो मूल्य योग्य माना जाता हो, एवं उचित हो, वह मूल्य प्रतिमाजी का निर्माण करने का रूपये आदिक की संख्यादिक से ठहरा लेना चाहिये, जिससे अपने को भी ठगाना न हो, और कारीगर को भी ठगना न चाहिये । ॥२२॥

‡ (७ प्रतिष्ठा-विधि)

णिष्कण्णस्स य सम्भं तस्स षड्ढावणे विही ऐसो, :—

स-द्वाणे सुह-जोगे अहि वासणमुच्चिय-पूआए, ॥ २३ ॥

चिइ वंदण-थुइ-बुड्ढी, उस्सग्गो सासण-सूरीए, ।

थय सरण, पूआ काले, ठवणा मंगल-पुट्वा उ. ॥ २४ ॥

सत्तीए संघ-पूआ, विसेस-पूआ उ बहु-गुणा एसा. ।

जं एस सुए भणिओ, :-“तिथ-यरा-ऽण-ऽरो संघो.” ॥२५॥

‡ सर्व गुण संपन्न प्रतिमाजी को बन जाने के बाद शुभ भाव पूर्वक प्रतिष्ठा कराने को विधि यह है,—

- (१) जहां वह (प्रतिमाजी) महाराज विराजमान हो वहां जाकर,
 - (२) (काल की अपेक्षा से) शुभ योग में,
 - (३) स्ववैभव के अनुसार,
 - (४) उचित पूजा पूर्वक अधिवासना करनी चाहिये ॥२३॥
- बाद में—

अच्छी तरह से—

- (५) चैत्यवंदना,
- (६) वृद्धि पूर्वक स्तुति (प्रथम छोटे वृत्त के श्लोक से, उत्तरोत्तर बड़े बड़े वृत्त के श्लोक से स्तुति करनी चाहिये)

जाग्रती पूर्वक—

- (७) शासन देवता का और
- (८) श्रुत ज्ञान देवता का कायोत्सग करना,
- (९) स्मरण पूर्वक चतुर्विंशति जिन स्तव कहना,
- (१०) पुष्पादि से पूजा और
- (११) उचित समय में—

(१२) श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण पूर्वक

(१३) श्री जिन प्रतिमाजी की स्थापना करनी चाहिये,

(१४) तथा शक्ति अनुसार और स्ववैभव के उचित श्री संघ की पूजा करनी चाहिये, क्योंकि—(दिगादि गत) विशिष्ट पूजा से भी संघ पूजा अधिक लाभकारी है। संघ की पूजा का विषय बहुत ही व्यापक है, इससे इसका महत्त्व बहुत ही है। शास्त्र में भी कहा गया है कि—
“श्री तीर्थंकर परमात्मा के बाद महत्त्व की वस्तु श्री संघ है।” इससे वह महान् है।

विशेषार्थ

“व्याप्य से व्यापक का महत्त्व अधिक रहता है” (श्री तीर्थंकर प्रभु स्थापित श्री जैन शासन और श्री संघ व्यापक है, और सभी धर्म प्रवृत्ति व्याप्य है।

यह रहस्य समझना चाहिये। सं०) ॥ २३, २४, २५ ॥

‡ यही बात आगे कही जाती है,—

गुण-समुदाओ संघो. पवयण, तित्थं, ति होइ एग-ऽडा. ।

तित्थ-यरो वि य एअं णमए गुरु-भावओ चेव. ॥ २६॥

“गुण का समुदाय को संघ कहा जाता है”

क्योंकि—संघ के अनेक आत्माओं में सम्यग् दर्शन आदि गुण भरे रहते हैं—

“प्रवचन, तीर्थ” इत्यादि श्री संघ के अनेक पर्याय शब्द हैं।

श्री तीर्थंकर परमात्मा भी

धर्म कथा का प्रारंभ करने से पहले, गुरु भाव से ही “णमो तित्थस्स”

“तीर्थको नमस्कार हो।” एसा कह कर, तीर्थ शब्द से श्री संघ को नमस्कार करते हैं।

इस कारण से श्री संघ का बड़ा महत्त्व है ॥ २६ ॥

‡ इस विषय में दूसरा भो प्रमाण दिया जाता है,—

तप्पुव्विया अरहया पूइय-पूआ य, विणय-कम्मं च. ।

कय-किच्चो वि जह कहं कहेइ, णमए तहा तित्थं. ॥ २७ ॥

अरिहंतपना तीर्थ से प्राप्त होता है, इस कारण से पूजित (तीर्थ) की पूजा की जाती है, जो विनय-कर्म रूप है।

कृत-कृत्य होने पर भी जिस तरह तीर्थकर भगवान् धर्मकथा करते हैं, उसी प्रकार (प्रभु) तीर्थको भी नमस्कार करते हैं ॥२७॥

विशेषार्थ

१. तीर्थ द्वारा ही धर्मानुष्ठान प्राप्त कर तीर्थकरपना प्राप्त होता है,
२. लोक में भी पूजित की पूजा की जाती है।
३. जिससे लाभ प्राप्त हुआ हो उसके प्रति कृतज्ञता धर्म पूर्वक भगवान् ने भी विनय कर्म किया है।
४. वीतराग सर्वज्ञ तीर्थकर प्रभु कृत-कृत्य होने पर भी तीर्थकर नाम कर्म का उदय से जिस तरह धर्म कथा रूप प्रवृत्ति करते हैं, उसी तरह तीर्थको भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि—इस प्रवृत्ति में औचित्य भी है ॥२७॥

एअम्मि पूइयम्मि, णऽत्थि तयं, जं न पूइयं होइ.।

भुवणेऽवि पूअणिज्जं ण अत्थि ठाणं [ण गुण-ट्ठाणं] तओ अण्णं. ॥२८॥

१. उस (श्री संघ की-तीर्थ की) पूजा करने से, (इस विश्व में) ऐसा कोई भी पूजनीय नहीं हुआ है, कि जिसकी पूजा न हो जाय।
२. त्रिभुवन में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जो उससे अधिक पूजनीय हो ॥२८॥

तप्पूआ परिणामो हंदि महा-विसयमो मुणेयव्वो.।

तद्-देस-पूअओ वि ह्हु देवय-पूआ-ऽऽइ-णाएणं. ॥ २९ ॥

१. श्री संघ माहान्-तम होने से, उसकी पूजा का परिणाम होना, यह भी सचमुच महा विषय रूप है, = अति महत्त्व की वस्तु है।
२. उसका एक देश की पूजा भी, - देव के एक देश की पूजा को तरह सर्व पूजा रूप हो जाती है ॥ २९ ॥

विशेषार्थ

- १ जिस तरह देव के एक भाग की-अंग की-पूजा देव की सर्व पूजा रूप होती है, उसी तरह श्री संघ के एक भाग की पूजा करने से, संपूर्ण श्री संघ की भी पूजा हो जाती है, क्योंकि- संघ एक ही होने से उसका एक भाग भी संपूर्ण माना जाता है।

सु-विशेषार्थ

यहां पर समझने का सार यह है, कि—एक विभाग की क्रिया में जिस तरह (सर्व-) देश का परिणाम होता है, उसी तरह—
व्यक्तिगत क्रिया में—नजदीक-पना के सम्बन्ध विशेष से—सभी व्यक्ति सम्बन्ध भी—सामान्य संबन्ध परिणाम भी—हो जाता है” यह सिद्धांत सिद्ध करने में कोई मुश्किल बात नहीं है (?) ॥२९॥

‡ फिर भी आगे का पूजा विधि बतसाया जाता है,—

तत्तो य पङ्क्तिं सो करिज्ज पूअं जिणिंद-ठवणाए ।

विभवा-ऽणुसार-गुरुई काले णियमं विहाणेणं. ॥ ३० ॥

प्रतिष्ठा के बाद में श्रावक श्री जिनेश्वर देव की स्थापना की—प्रतिमाजी की—

१५ प्रतिदिन स्व-विभव अनुसार-योग्य धन व्यय पूर्वक—

१६ दर रोज-प्रतिदिन,

१७ योग्य समय में

१८ भोजनादि के समान निश्चित रूप से—अवश्यंतया—

१९ भव्यता पूर्ण

२० अभ्यर्चना रूप

२१ पूजा करनी चाहिये ॥३०॥

‡ जिन पूजा ही बता रहे हैं,—

जिण-पूआए विहाणं,—सूई-भूओ, तए वेय उवउत्तो, ।

अण्ण-ऽगम-ऽल्लिवन्तो करेइ जं [प]वर-वत्थूहिं. ॥ ३१ ॥

पूजा का विधि—

१ पूजा करने का उद्देश्य से—उसमें ही उपयुक्त होकर प्राणिधान पूर्वक-दत्त-चित्त वाले—होकर,

२ स्नानादिक से पवित्र होकर,

३ (स्वशरीर के भी) मस्तक आदि किसी भी अंग का स्पर्श न करते हुए,

४ सुगन्ध युक्त पुष्पादि उत्तम पदार्थों से पूजा करनी चाहिये ॥३१॥

‡ शेष विधि भी यहां बतसाया जाता है —

सुह-गंध-धूव-पाणोय-सव्वोसहिमा-SSइएहिं ता ण्हवणं, ।

कुंकुमगा-SSइ-विलेवणमSSइ-सुरहिं मण-हरं मल्लं, ॥ ३२ ॥

५ शुभ गन्ध वाला धूप,

६ सर्व औषधि आदि से मिश्रित पानी से प्रथम खूब अच्छी तरह स्नान कराना,

७ अति सुगन्धि कुंकुम आदि का विलेपन करना,

८ और ऐसे ही मनोहर मालाएं प्रभु को चढाई जाय ॥३२॥

विविह-निवेअणमाSSरत्तिगा-SSइ धूव-थय-वन्दणं विहिणा ।

जह सत्ति गोअ-वाइअ-णच्चण-दाणा-SSइअं चैव. ॥ ३३ ॥

९ विविध प्रकार के नैषध ढौकना,

१० आरात्रिक आदि उतारना,

११ धूप उवेखना,

१२ स्तवन-करना

१३ वन्दना करनी

ये सभी विधि पूर्वक करने चाहिये, और यथा शक्ति—

१४ गीत

१५ वाद्य

१६ नृत्य और

१७ दान देना, आदि,

१८ आदि शब्द से—उचित-स्मरण करना ।

अर्थात्—जिन पूजा में जो जो उचित हो, उन सभी का स्मरण कर उपयोग में लेना ॥३३॥

“विहिया-ऽणुट्टाणमिणं” ति एवमेयं सया करिंताणं ।

होइ चरणस्स् हेऊ. णो इह लोगाद-ऽवेक्खाए. ॥ ३४ ॥

‡ “यह शास्त्राज्ञा से विहित-धर्म अनुष्ठान है ।”

इसी प्रकार मन में बराबर समझकर, सदैव उसको करने वालों के लिए वह चारित्र का कारण बनता ही है ।

किन्तु—इस लोक के सुख आदि के लिए यदि किया जाय, तो वह चारित्र का हेतु भूत नहीं बनता है ।

आदि-शब्द से—कीर्ति आदि की अपेक्षा का त्याग भी समझ लेना चाहिये ॥३४॥

विशेषार्थ

“यावज्जीव धर्म की आराधना-

उत्तम पुण्य विशेष का और विशिष्ट निर्जरा की कारण बनती है”

यह गर्भित अर्थ समझना चाहिये । ३४।

एवं चिय भाव-त्थए आणा-आराहणा उ रागो वि ।

जं पुण एय-विवरियं, तं दव्व-त्थओ धि णो होइ ॥ ३५ ॥

- 1 इस विधि से जिन पूजा- (द्रव्य स्तव) करने पर आज्ञा की आराधना होती है, और भाव स्तव में-राग भी होता है ।
- 2 यदि, वह द्रव्य-स्तव भी विपरीतपना से-स्वच्छंद वृत्ति से-आज्ञा रहित पना से-किया जाय, तो यह [प्रधान] द्रव्य-स्तव भी नहीं होता है । ॥३५॥

विशेषार्थ

- 1 द्रव्य पूजा यदि भाव स्तव के राग से किया जाय, तब ही वह द्रव्य स्तव बनता है, क्योंकि-द्रव्य स्तव भी अपेक्षा से भाव स्तव का एक भाग रूप ही है ।
- 2 तार्किक विद्वानों का भी कहना है कि-“सूत्र की आज्ञा सिद्ध द्रव्य स्तव ही भाव स्तव का कारण बनता है, उत्सूत्र रूप द्रव्य स्तव भाव स्तव का कारण नहीं बनता है ॥३५॥
- 3 आज्ञा रहित पना से किया गया द्रव्य स्तव को भी यदि द्रव्य स्तव माना जाय, तो दोष बताया जाता है,-

भावे अइ प्पसंगो, आणा विवरीयमेव जं किंचि ।

इह चित्ता-ऽणुद्धानं, तं दव्व-त्थओ भवे सव्वं ॥ ३६ ॥

- 1 यदि सूत्र की आज्ञा से विरुद्ध जिन भवनादिक को द्रव्य-स्तव के रूप में माना जाय, तो अतिव्याप्ति दोष आ जाता है ।
- 2 इस लोक में—
घर बनाना इत्यादि जो कुछ विविध प्रवृत्तियां आज्ञा के विरुद्ध की जाती, वे सभी,—
द्रव्य स्तव हो जाय,
- 3 क्योंकि—

द्रव्य स्तव की व्याख्या में—

सूत्राज्ञा पूर्वकता रूप

निमित्तविशेष को यदि न रखा जाय, तो,

इस प्रकार से संसार की सारी प्रवृत्तियां समान रूप से ही द्रव्य स्तव सिद्ध हो जाय ॥३६॥

‡ “इस अतिव्यप्ति दोष के निवारण के लिए क्या क्या विशेषण जोड़ना चाहिये ?” इस प्रकार की शंकाएं उठाकर, कहा जाता है, कि—

“जं वीय-राय-गामि, अह तं” “नणु सिद्धणा-ऽऽदि वि स एवं ।

सियं ?” “उच्चियमेव जं, तं,” “आणा-ऽऽराहणा एवं.” ॥ ३७ ॥

“जो अनुष्ठान वीतराग गामि हो, उसको द्रव्य स्तव कहा जाय ?”

“तो—श्री वीतराग प्रभु की यदि कोई निंदा करे, तो वह कार्य भी वीतराग गामि प्रवृत्ति (अनुष्ठान) बन जाती है । तो-वह कार्य ओर निमित्त न होने पर भी, क्या द्रव्य स्तव हो ही जाय ?”

“नहीं”

इस कारण से—“जो अनुष्ठान वीतराग गामि हो, और उचित हो,” वह द्रव्य स्तव बनता है ।

इस प्रकार—“जो अनुष्ठान वीतराग गामि-वीतराग भगवंत के प्रति हो और वही अनुष्ठान उचित भी हो, तो वह अनुष्ठान द्रव्य स्तव है,” ऐसा कहने से द्रव्य स्तव की निर्दोष व्याख्या बनती है ।

“तब तो, द्रव्य-स्तव की व्याख्या में उपरोक्त कोई दोष नहीं आता है न ?

इस प्रकार से आज्ञा की आराधना अवश्य होती है—दोष नहीं रहता है ।

“प्रायः” उचित भी वही है, कि—जो आज्ञा सिद्ध हो” यह भाव है ॥३७॥

विशेषार्थ

१ उचित शब्द रखा जाय, अथवा आज्ञा सिद्ध शब्द रखा जाय, वह समान ही है ॥३७॥

‡ (अति सूक्ष्म विचारणा)

१ इस प्रकार से

१ “आज्ञा शुद्ध हो,

२ वीतराग गामि हो, और

३ भाव-स्तव हेतु-भूत हो,
 ऐसा अनुष्ठान हो,
 वह द्रव्य स्तव है ।
 यह सार फलित होता है ।

इस लक्षण में—

“भाव-स्तव के जो हेतु-भूत” यह विशेष्य पद है, उस को रखने का प्रयोजन यह है कि—भाव-स्तव में अति व्याप्ति न हो ।

अर्थात्—

द्रव्य स्तव का लक्षण भाव-स्तव में न चला जाय । किन्तु उस विशेष्य पद को रखने से भाव-स्तव में द्रव्य-स्तव का लक्षण चला जा सकता नहीं । प्रथम के दो विशेषण जो है, वे भाव-स्तव में रही हुई जो कार्यता, उसकी हेतुता जो द्रव्य स्तव में रही है, उस हेतुता के स्वच्छेदक धर्म-बनते हैं ।

अर्थात्—

जो अनुष्ठान—

- १ आज्ञा-सिद्ध न हो और,
- २ वीतराग-गामि न हो, वह अनुष्ठान
 भाव-स्तव का हेतु हो सकता ही नहीं ।

आज्ञा सिद्धपना और वीतरागगामिपना ही यहां हेतुता का अवच्छेदक बनता है । वास्तविकतया देखा जाय तो—

“भाव स्तव को हेतु ही द्रव्य-स्तव का लक्षण ठीक बनता है । इस विषय को यह निम्नोक्त गाथा कुछ विशेष स्पष्ट करती है,—

“जं पुण एय वियरां एग ऽत्तेणैव भाव सुणं ति ।

तं.” विसयम्मि वि ण तओ भाव-त्थया-ऽ-हेउओ उच्चिओ. ॥३८॥

पञ्चा० ६-९ ॥

“जो अनुष्ठापन—

औचित्यादि से रहित हो, (जिस अनुष्ठान में औचित्य न हो,)

वह अनुष्ठान—

एकान्त से ही

भाव शून्य होता है,

(क्योंकि—वह आज्ञा से निरपेक्ष-आज्ञा से रहित-होता है ।

‘ वीतराग-गामि’ होने पर भी, वह द्रव्य-स्तव नहीं बन सकता है ।

क्योंकि—वह भाव-स्तव का हेतु नहीं है, क्योंकि— वह उचित नहीं है,—
आज्ञा सिद्ध नहीं है । ३८॥

विशेषार्थ

ऐसा (भाव-शून्य-भाव स्तव के कारण भूत न बन सके-ऐसा जो द्रव्य-स्तव हो,
उसको-अप्रधान द्रव्य स्तव कह सकते हैं । (जो भाव स्तव का अंग बन
सकता नहीं) ॥ ३८ ॥

(इसकी विशेष स्पष्टता आगे स्वतंत्र प्रबन्ध से की जायगी) ३८

शास्त्र में—

१ “द्रव्य” शब्द प्रधान “अर्थ में”

और

२ “अप्रधान” अर्थ में भी प्रयुक्त होता है,

अप्रधान=निकम्मा, अनुपयोगी, अधिकृत प्रयोजन रहित ।

इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

(मुख्य फल न मिले, और)

आनुषंगिक फल मिले, वह तो उचित नहीं है,—यह समझाया जाता है,—

भोगा ऽऽह फल विसेसो उ अत्थि एत्तो वि विसय-भेएणं, ।

तुच्छो य तओ. जम्हा हवइ पगार-ऽतरेणाऽवि. ॥ ३९ ॥

॥ पञ्चा० ६-२५ ॥

‡ “कीर्ति आदि जो आनुषंगिक फल मिलते हैं, वे अनुचित हैं ।” इसका स्पष्ट
कारण दिया जाता है ।

द्रव्य स्तव से वीतराग संबंधी कुछ प्रवृत्ति-विशेष द्वारा विशेष प्रकार के भोगादि सांसारिक ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु वे तुच्छ-नगण्य हैं।

क्योंकि— वे फल तो अ-काम निर्जरादि और प्रकारों से भी प्राप्त होते हैं । ॥३९॥

‡ “द्रव्य स्तव में भाव स्तव से उचित अनुष्ठान पना की कौनसी विशेषता है ?”

‡ उस प्रश्न का उत्तर यहां दिया जाता है—

उचिया-ऽणुद्वाणाओ विचित्त-जइ-जोग-तुल्लमो एस ।

जं ता कह दव्व-धवो ? तद्-दारेणऽप्प-भावाओ ॥४०॥

॥ पञ्चा० ६-१६ ॥

उचित अनुष्ठानपना से यह द्रव्य स्तव भी शास्त्र विहित होने से, मुनियों के विचित्र (भाव-स्तव)-योग के समान है।

“यदि ऐसा है, तो उसे भाव स्तव ही क्यों न कहा जाय ? और द्रव्य स्तव कंसे कहा जाय ?

उसका उत्तर,—

“भाव स्तव की अपेक्षा द्रव्य स्तव से अल्प भाव होता है, अर्थात्, उस हेतु से फल कम मिलता है ॥ ४० ॥

‡ “क्योंकि—अधिकारी भेद से अल्प भाव होता है ।”

यह समझाते हैं—

जिण-भवणा'ऽऽइ-विहाण-दारेणं एस होइ सुइ जोगो ।

उचिया-ऽणुद्वाणं, वि य तुच्छो जइ-जोगओ णवरं ॥ ४१ ॥

पञ्चा० ६-१७ ॥

जिन भवनादि बनवाने के द्वारा यह द्रव्य अनुष्ठान शुभ व्यापार है, और उचित उत्तम-अनुष्ठान भी है। तथापि—मुनि के योग से तुच्छ है, अल्प है । ४१ ॥

विषेशार्थ

“मलीन आरंभ को करने वाला गृहस्थ का द्रव्य स्तव शुभ योग होने पर भी,

मुनि का योग से वह बहुत ही अल्प है, और शुभयोग साधर्म्यसे समान भी है ।” यह रहस्य है । ॥४१॥

‡ इस विषय में ओर भी रहस्य बताते हैं,—

सव्वत्थ णिर-ऽभिसंगं त्तणेण जइ-जोगमो महं होइ ।

एसो उ अभिसंगा कत्थइ तुच्छे वि तुच्छो उ. ॥ ४२ ॥

॥ पञ्चा० ६-१८ ॥

‡ जीवन के सर्व प्रसंग में अनासक्तिपना होने से मुनि का योग बढ़ा है । और ब्रह्म स्तव आसक्ति युक्त आत्मा का होने से तुच्छ वस्तु में भी तुच्छ ही है । (इस कारण से वह अल्प है) ॥ ४२ ॥

जम्हा उ अभिस्संगो जीव' दूसेइ णियमओ चेव ।

तद्-दूसियस्स जोगो विस-घारिय-जोग-तुल्लो उ. ॥ ४३ ॥

‡ क्योंकि—आसक्ति आत्मा को स्वभाव से ही मलिन बना देती है । उस (आसक्ति) से दूषित आत्मा का योग विष से मिश्रित योग के समान है, अर्थात् अशुद्ध होता है, ॥ ४३ ॥

जइणो अ-दूसियस्स हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स ।

सुद्धो अ उवादेए, अ-कलंको सव्वहा सो उ. ॥ ४४ ॥

॥ पञ्चा० ६-२० ॥

‡ हेय तत्त्वों से स्वभाव से ही सर्वथा निवृत्त एवं दूर रहने से, सामायिक भाव में स्थिर रहने से और उपादेय वस्तु में आज्ञा पूर्वक प्रवृत्ति करने से मुनि का योग निर्दोष-शुद्ध-होता है । उसी कारण से वह-यति-योग-सर्वथा निष्कलंक होता है ॥ ४४ ॥

विषेशार्थ

“सभी शुभयोग मात्र से जो जो छोटे बड़े फल मिलते हैं, उसके छोटे-बड़े पना का कारण-आसक्ति सहकृत शुभयोग, और अनासक्ति सहकृत शुभयोग होता है । इससे-शुद्धि और अ-शुद्धि में भेद घटता है ।” यह न्याय का मार्ग है । ४४

‡ उदाहरण पूर्वक उन दोनों का उपर कहा गया स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

अ-सुह-तरं-डुत्तरण-प्पाओ वव्व-त्थओ-ऽमत्थो य. ।

इयरो पुण णईमा-ऽऽइसु समत्थ [त्त] बाहु-त्ततरण-कप्पो. ॥ ४५ ॥

॥ पञ्चा० ६-२१ ॥

‡ दोष सह-कृत होने से द्रव्य स्तव अशुभ एवं कांटे से युक्त शाल्मली आदि वृक्ष के तरापा से नदी आदि को पार करने के समान है ।

और इस हेतु से वह मोक्ष देने में असमर्थ है । और, भाव स्तव समर्थ बाहु से नदी आदि को तैर जाने के समान है । इस हेतु से- उसे ही मोक्ष होता है ॥ ४५ ॥

कडुओ [अ-ओ] सहा-ऽऽइ-जोगा मंथर-रोग-सम-सण्णिहो वा वि ।

पढमो विणोसहेणं तक्खय-तुल्लो य बीओ ॥ ४६ ॥

॥ पञ्चा० ६-२२ ॥

‡ अथवा,

पहिला-द्रव्य स्तव, कटु औषधि आदि के योग से आस्ते से होने वाली रोग की उपशांति के समान है, और दूसरा (भाव स्तव) औषध के बिना ही एवं स्वबल से ही रोग का क्षय करने के समान है ॥ ४६ ॥

‡ अब, दोनों के अलग अलग फल बताये जाते हैं—

पढमा उ कुसल-बंधो. तस्स विवागेण सु-गईमा-ऽऽईयो ।

तत्तो परंपराए षईओ वि हु होइ कालेण ॥ ४७ ॥

॥ पञ्चा० ६-२३ ॥

पहिला-द्रव्य-स्तव-से सरागता का योग होने से कुशल बंध-अर्थात् पुण्य बन्ध होता है ।

और इस कुशल बन्ध का विपाक से सु-गति आदि-एवं संपत्ति, विवेक आदि की प्राप्ति होती है । उस द्रव्य स्तव के अभ्यास के बल से कालक्रम से दूसरा-भाव स्तव-भी प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

‡ और विशेष प्रकार से यह निम्नोक्त भी कहा जाता है,—

जिण-बिष-पइट्ठावण-भाव-ऽज्जिय-कम्म-परिणह-वसेणं ।

सु-गइअ पइ-ट्ठावणमऽण-ऽहं सह अप्पणो जम्हा ॥ ४८ ॥

॥ पञ्चा० ७-४५ ॥

‡ क्योंकि—

जिन प्रतिमाजी महाराज को प्रतिष्ठा कराने की जो भावना, उसे उपार्जित किये हुए (शुभ) कर्म परिणाम के बल से—अर्थात्—और भी बहुत कारण—सामग्री

मिलने से आत्मा की सु-गति में सदा पवित्र प्रतिष्ठापना होती है ॥ ४८ ॥

‡ ओर भी विशेष कहा जाता है, कि—

तत्थ-ऽवि य साहु-दंसण-भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ गुण-रागो ।

काले य साहु-दंसणं जह-क्कमेण गुण-करं तु । ॥ ४९ ॥

॥ पञ्चा० ७-४६ ॥

ओर -सुगति में भी साधु पुरुषों का दर्शन की भावना से जो कर्म उपार्जित होते हैं, उसे गुणों का राग उत्पन्न होता है । और कालान्तर में साधु महात्माओं का दर्शन होता है । उस कारण से—उसी क्रम से वह भी लाभ का कारणभूत होता है ॥ ४९ ॥

“पडिबुज्झिस्संतऽणणे” भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ पडिवत्ती ।

भाव-चरणस्स जायइ. एअं चिय संजमो सुद्धो । ॥ ५० ॥

॥ पञ्चा० ७-४७ ॥

‡ “इस मंदिर में आ कर जिन प्रतिमा जी के दर्शन से अनेक आत्मायें प्रतिबोध पायेंगी.” इस प्रकार का जो भाव रहा था, उससे बन्धा हुआ कर्म के बल से मोक्ष का अपूर्व हेतु रूप भाव चारित्र की प्राप्ति होती है । यही भाव चारित्र रूप ही शुद्ध संयम है ॥५०॥

भाव-त्थओ अ एसो थोअव्वोचिय प्पवत्तिओ णेओ ।

णिर-ऽवेक्खा-ऽऽणा-करणं कय-किच्चे हंदि उचियं तु । ॥ ५१ ॥

‡ स्तुति करने के योग्य के प्रति प्रवृत्ति रूप होने से शुद्ध संयम को ही भाव-स्तव समझना चाहिये । कृत-कृत्यों के प्रति-एवं स्तुति योग्य के प्रति-निरपेक्षपना से आज्ञा का पालन करना ही उचित है, और कुछ भी उचित नहीं है । क्योंकि—सांसारिक-भाव के प्रति निरपेक्ष भाव उसे प्राप्त हुआ करता है ॥ ५१ ॥

एअं च भाव-साहुं [हु] विहाय, नऽणणो चएइ काउं जं [जे] ।

सम्मं तग्गुण-नाणा-ऽ-भावा तह कम्म-दोसा य । ॥ ५२ ॥

॥ पञ्चा० ६-२५ ॥

‡ इस प्रकार, आज्ञा का पालन करने का कर्त्तव्य साधु को छोड़कर, दूसरा कोई पामर आत्मा अच्छी तरह से कर पाता नहीं । क्योंकि—उस आज्ञा का पालन

से जो लाभ होता है, उसे वह अज्ञात स्थिति में रहता है । और चारित्र मोहनीय कर्म का उदय से भी वह उसको अच्छी तरह से कर सकता नहीं ॥५२

विशेषार्थ

इस प्रकार, आज्ञा का पालन करने के लाभों का ज्ञान न होने से, आज्ञाका पालन करने पर भी "रत्न परीक्षा" का न्याय की तरह, बुद्धि को लगाने की आवश्यकता रहती है । (जिस तरह रत्न परीक्षा करने का सिखने वाले को सदैव रत्न परीक्षा करने का अभ्यास करना पड़ता है, और जो बुद्धिमान् होता है-पारंगत होने की बुद्धि रखता है-वही रत्न परीक्षा में पारंगत हो सकता है । तथा प्रकार की बुद्धि के सिवाय रत्न परीक्षा में प्रवीण होना मुश्किल है, नहीं हो सकता है ॥ ५२ ॥

। "आज्ञा का पालन इतना मुश्किल क्यों है ?"

इसका कारण कहा जाता है,—

जं एअं अट्टा-रस-सील-ऽग-सहस्र-पालणं णेयं ।

अच्च-ऽत-भाव-सारं, ताइं पुणं हुंति एआइं— ॥ ५३ ॥

क्योंकि—यह अधिकृत आज्ञा का पालन अत्यन्त भाव सार रूप-अट्टा-रह सहस्र शीलांगों का पालन रूप समझना चाहिये । वे शीलांग बताये जाते हैं ।

वे शीलांग इस प्रकार हैं, ॥ ५३ ॥

शीलांगों का स्वरूप

जोए करणे सण्णा इंदिय-भोमा-ऽऽह समण-धम्मे य ।

सील-ऽग-सहस्साणं अट्टा-रसगस्स णिप्फत्ती । ॥ ५४ ॥

पञ्चा० १४-३ ॥

मन आदि का व्यापार— (३)

मन आदि करण— (३)

आहार की इच्छा आदि संज्ञाएं— (४)

स्पर्शन आदि इन्द्रियां— (५)

भूमि आदि-पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजः काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, और अजीव । (१०)

और क्षमा आदि श्रमण धर्म (१०)

यह सब मिलकर अट्टारह हजार भेदों बन जाते हैं, जो चारित्र के कारण है।
 $३ \times ३ \times ४ \times ५ \times १० \times १० = (१८०००)$ गाथा का अर्थ ॥ ५४ ॥

करणा-SSइ तिणिण, जोगा मणमा-SSईणि उ हूँति करणाईं ।

आहारा-SSई सण्णा, सवणा [सोत्ता] -SSइं इंदिया पंच, ॥ ५५ ॥

भोमा-SSइ णव अ-जीव-काओ अ, पुत्थ-पणगं च, ।

खंता-SSइ-समण धम्मो. एवं सइ भावणा एसा- ॥ ५६ ॥

पञ्चा० १४-१५ ॥

यह दोनों गाथा का अर्थ स्पष्ट ही है,

[करण आदि तिन-स्वयं क्रिया गया हो, अन्य से कराया गया हो, और अनुमत क्रिया गया हो (२)

मन आदि तिन योग - मन वचन और काया रूप तिन साधन (३)

आहारादि संज्ञाएं—आहार-भय-मैथुन-परिग्रह (४)

श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियां—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः- श्रोत्र (५)

उत्तरोत्तर “शीलांग गुणों की प्राप्ति से शीलांग प्राप्त होते हैं” यह बताने के लिए इन्द्रियों का पश्चात् क्रम बताया गया है।”

भूमि आदि नव—पृथ्वीकाय-अपकाय, तेजः काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय, (९)

और पुस्तकादि पञ्चक अजीव काय-

पुस्तक, चर्म, तृण, सुषिर, रूप (९ + १ = १०)

क्षमा आदि दश श्रमण धर्म-क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति-निर्लोभता, तपः, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता, ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पूर्वक-गुरु कुलवास में रहना (१०)

इस प्रकार के अट्टारह हजार शीलांग की घटना इस प्रकार है ॥५६॥

[भोमा-SSइ-णव जीवा, अ-जीव-काओ य, समण धम्मो उ ।

खंता-SSइ-दस-पगारो, एवं ठीए भावणा एसा, ॥ ५७ ॥

भूमि आदि नव जीवकाय और अजीवकाय, क्षमादि दश प्रकार के श्रमण धर्म, इस प्रकार होने से शीलांगों की घटना निम्न प्रकार से होती है ॥५६॥]

घटना इस प्रकार से की जाती है —

ण करेइ मणेणा-ऽऽहार-सण्णा-विप्पजदुगो उ णियमेणं ।

सोइंदिय संवुडो पुढवी-काय-आरंभं खति-जुओ. ॥ ५७ ॥

पञ्चा० १४-६ ॥

न करना,

मन से,

आहार संज्ञा का नियम से त्याग कर, श्रोत्र इन्द्रिय का संवरण करके,

पृथ्वी काय का आरंभ,

क्षमा से युक्त होकर, ॥५७॥

इय मद्दवा-ऽऽइ-जोगा पुहवा-काये हदंति दस भेया. ।

आउ-काया-ऽऽईसु वि. इय ए ए पिंडियं तु सयं. ॥ ५८ ॥

पञ्चा० १४-७ ॥

इस प्रकार मार्दवादि श्रमण धर्म से युक्त होकर, पृथ्वीकाय का आरंभ का त्याग करने का दश भंग होता है ।

इस प्रकार अप्कायादि से घटना करनी । इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ भंग होते हैं ॥ ५८ ॥

सोइं [अ-इं] दियेण एअं, सेसेहिं वि जं इमं, तओ पं०. ।

आहार-सण्ण-जोगा इय, सेसाहिं, सहस्स दुगं. ॥ ५९ ॥

पञ्चा० १४-८ ॥

इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय से (१००) भंग हुए, इस प्रकार-ऐसे ही सो-सो भंग शेष इन्द्रियों से करने से पांच सौ होता है ।

ये आहार संज्ञा का त्याग से (५००) हुए, और भय आदि संज्ञा का त्याग से दो हजार भंग होते हैं ।

एअं मणेणं, वयमा-ऽऽइएसु. एअं ति, ह-स्सहस्साइं ।

ण करणं, सेसेहिं पि य, ए ए, सव्वेवि अट्टारा. ॥ ६० ॥

पञ्चा० १४ ९ ॥

इस प्रकार मन से (२०००) भंग हुए ।

इस प्रकार वचन और काया से मिलाकर छः हजार भंग न करने के हुए ।

और न कराने का, न अनुमोदना करने का. सब मिलाकर अट्टारह सहस्र हुए ॥ ६० ॥

स्पष्टार्थ

१ आहार संज्ञाका २ मन से त्याग कर ३ क्षमा युक्त होकर ४ श्रोत्र इन्द्रिय से ५ पृथ्वीकाय का आरंभ ६ न करना । इस प्रकार एक भंग हुआ ।
मार्दवादि दश श्रमण धर्म से भंग १०

अपकाय आदि दश का आरंभन करना—

$$\begin{array}{r} \times १० \\ \hline १०० \end{array}$$

श्रोत्र इन्द्रिय से भंग—

$$१००$$

सभी इन्द्रियों से—

$$\begin{array}{r} \times ५ \\ \hline ५०० \end{array}$$

और सभी संज्ञा का त्याग से—

$$\begin{array}{r} \times ४ \\ \hline २००० \end{array}$$

वचन और काय योग के भंग मिलाकर—

$$\begin{array}{r} \times ३ \\ \hline ६००० \end{array}$$

न करना, और न कराना, न अनुमोदित करने का, छ-छ हजार

सब मिलाने से—

$$\begin{array}{r} \times ३ \\ \hline १८००० \end{array}$$

॥ ६० ॥

इत्थ इमं विण्णोयं अइदं-पज्जं तु बुद्धिमंतेहिं ।

एकम्मि वि सु-परिसुद्धं सील-ऽंगं सेस-सम्भावे ॥ ६१ ॥

पञ्चा० १४-१० ॥

‡ इस विषय में, बुद्धिमान पुरुषोंने, ऐदम्पर्यं अर्थात्—रहस्य-यह समझने का है,—“सभी शीलांग होने पर ही एक शीलांग अवश्य परिशुद्ध हो सकता है। अर्थात्—उसको तब शीलांग कहा जाता है ।

‡ यहां, बुद्धिमान् पुरुषों को रहस्यमय बात यह समझनी चाहिये, कि—

“सर्व शीलांग होने पर ही एक शीलाङ्ग परिशुद्ध हो सकता है, अन्यथा, एक भी परिशुद्ध नहीं होता” ॥ ६१ ॥

‡ इस विषय में दृष्टांत बताया जाता है, कि—

इक्की वाऽऽय-पएसो अ-संखेअ-पएस-संगओ जह उ,
एअंपि तहा णेयं, स-तत्त-याओ इयरहा उ. ॥ ६२ ॥

पञ्चा० १४-११ ॥

जिस तरह, असंख्य प्रदेशी एक ही अखंड आत्मा है, एक भी प्रदेश की न्यूनता से आत्मा नहीं होता है, उसी तरह, एक भी शीलांग, अन्य सभी शीलांग के बिना-एक भी शीलांग भूत-नहीं होता है।

यदि ऐसा न हो, और एक भी शीलाङ्ग केवल हो सके, तो एक प्रदेश की आत्मा भी रह सके. किन्तु, ऐसा संभवित नहीं. एक प्रदेश का अभाव से आत्मा नहीं हो सकती है, उसी तरह, एक शील भी रह सकता कहीं ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ

“समुदायी-यानि अखंड पदार्थ-समुदाय पूर्वक ही अपना अस्तित्व रख सकता है।”

यह सिद्धांत है। (कई ऐसे यंत्र होते हैं, कि-यदि इस यंत्र के अलग अलग विभागों की-अवयवों की-ऐसी योजना रहती है, कि एक छोटा भी भाग हट जाय-निकल जाय-तो सारा यंत्र काम के लिए असमर्थ हो जाता है) ॥६१॥

‡ उसकी ही स्पष्टता की जाती है,—

जम्हा समग्गमेयंपि सव्व-सा-ऽ-वज्ज-जोग-विरईओ. ।

तत्तेणोग-स-रुवं ण खंड-रुवत्तणामुवेइ. ॥ ६३ ॥

पञ्चा० १४-१२ ॥

सर्व सावद्य योगों की संपूर्ण विरति रूप जो अखण्ड धर्म है, उसका अस्तित्व एक भी शीलांग न रहने से बन सकता नहीं। क्योंकि-एक भी शीलांग न रहने से-वह विरति नहीं रहने से, अर्थात्-सर्व सावद्य योगों की संपूर्ण सर्व-विरति नहीं रहती है, उसको सर्व सावद्य योगों की विरति नहीं कहा जा सकती है।

उसी कारण से-सर्व सावद्य योगों की विरति, स्वरूप से-तत्त्व से-एक रूप ही है। अखंड स्वरूप से ही सर्व सावद्य योग की विरति का स्वरूप को वह प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ६३ ॥

विशेषार्थ

उसी कारण से-उसका कोई भी अंग केवल-एक-पृथक्-शीलांगपना से रहता नहीं-संभवित होता नहीं ॥ ६३ ॥

‡ यहां प्रश्न किया जाता है कि—

[श्री मुनिराज को] विहार में नदी को पार करना पड़ती है, तब जल जीवों की हिंसा होती ही । वहां अखण्डितता किस तरह टिक सकती है ? वहां, अखण्डितता अवश्य बाधित हो जाती है, तो सभी शिलाङ्ग चले जाने से भ्रमण पना ही-सर्व सावद्य विरति ही किस तरह टिक सकती है ? ।

‡ उसका उत्तर,—

एथं च एत्थ एवं विरह्-भावं पडुच्च ददुच्चं, :— ।

ण उ बडुच्चं पि पवित्तिं, जं सा भावं विणा वि भवे ॥ ६४ ॥

पञ्चा० १४-१३ ॥

यहां पर, ऐसा समझना चाहिये, कि—

सर्व सावद्य की विरति रूप एक ही यह शील समझना चाहिये । अर्थात्—
आंतरिक विरति भाव की अपेक्षा से-अखंड समझना चाहिये ।

बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा से (अखंड) नहीं समझना चाहिये ।

क्योंकि—बाह्य प्रवृत्ति आंतरिक भाव बिना भी संभवित हो सकती है ।

इस कारण से—

मुनिराज को नदी को पार करना ही, उस प्रसंग में द्रव्य प्रवृत्ति से-बहार से-अपकाय जीवों की विराधना का आरंभ दोष का-संभव दिखाई देता है, तथापि-प्रमाद न होने से-भाव से-शीलाङ्ग का भंग नहीं होता है, किन्तु पालन ही होता है । अर्थात्-सभी शीलाङ्ग अखण्डित रहने से सर्व सावद्य योग की निवृत्ति रूप अखण्ड चारित्र रहता है ॥ ६४ ॥

‡ जिस तरह—

जह उरसगग्मि ठिओ खित्तो उदगग्मि केण वि तवस्सी, ।

तवू-वह-पवित्त काओ अ-चलिअ-भावोऽ-पवत्तओ अ ॥ ६५ ॥

पञ्चा० १४-१४ ॥

जिस तरह-कोई अबुध व्यक्ति अज्ञानता से, कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित कोई मुनिराज को उठाकर जलाशय में फेंक देवे, उस समय उक्त मुनिराज का शरीर से पानी को धक्का लगे, और उससे अप्काय जीवों का वध-हो जाने की पूरी संभावना है-होता है। तथापि-उस महात्मा का अहिंसक भाव अचलित रहने से-वह स्वयं-हिंसा में प्रवृत्त नहीं होने से-शीलांग का खण्डन में प्रवृत्त नहीं है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ

क्योंकि-माध्यस्थ भाव को टीकाई रखने से-अखण्डितता टोक रहती है। स्व बुद्धि पूर्वक दोषयुक्त को गई प्रवृत्ति को ही दोषित प्रवृत्ति कहा जा सकती है।

श्री धर्मसागर उपाध्यायजी महाराज का जो मत है,—

“उस हिंसा में— मध्यस्थ मुनिराज का कायादिक का योग कारण भूत नहीं है, किन्तु, जिसकी हिंसा होती है, उस (अप्काय जीव) का योग उसमें कारण भूत रहता है। उसी कारण से-मुनिराज का शील का भंग नहीं होता है।”

यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि-उसमें अति प्रसंग-अति व्याप्ति-दोष आता है।

और—

“एगया गुण समीपस्त रीअतो काय-संफासं समणुचिण्णा एगतिया पाणा उदायंतित्ति ।* ”

[श्री आचारांग सूत्र-सूत्र १५८, अ० ५, उद्दे० ४. पृ० २१०]

इस प्रकार के-आगम सूत्र से विरोध आता है। योग युक्त को काया का स्पर्श में एक काय योग का ही व्यापार रहता है।

इस विषय को चर्चा का विस्तार दूसरे स्थान पर ग्रन्थान्तर में-किया गया है (श्राव्यः स्वोपज्ञ-धर्म परोक्षा वृत्ति में (?) ।

*इस सूत्र की वृत्ति का भावार्थ—

एगया = कीसी समय पर

एगयसु = गुणों से युक्त-अप्रमत्त मुनिराज को

रीयणाणस्त = सम्यग् अनुष्ठान में उग्रयुक्त रहने से—(अर्थात्—)

अति-क्रमण करने वाले की,

परिक्रमण करने वाले की,

(अंगो का) संकोच करने वाले की,

” प्रसारण-फैलावा करने वाले की,

पीछे धुमने की प्रवृत्ति करने वाले की,

और-संपरिमार्जन-प्रमार्जन-करने वाले की, किसी भी अवस्था में—

काय = शरीर,

तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः—

उसके स्पर्श को प्राप्त हुए,—शरीर के साथ का संयोग को प्राप्त हुए,—ऐसे संघातिम—आदि-जीवों-हो,

अर्थात्—अप्रमत्त मुनिराज की किसी भी प्रवृत्ति से उन्हीं की काया की साथ संघातिम-उड़ने हुए जीवों-आदि जीव का संयोग हो जाय, और,—

उसमें से कोई परिताप को प्राप्त करे,

” ग्लान हो (करमा) जावे,

और मरण के पूर्व की स्थिति की प्राप्ति के विषय में तो—सूत्रकार भगवंत स्वयं सूत्र से ही बतलाते हैं, कि—

एगया पाणा उद्धार्यन्ति = प्राणों से विद्युक्त हो जाय—मरण प्राप्त कर ले,

इस विषय में कर्म के बन्ध में विचित्रता रहती है, उस की समझ इस प्रकार है,—

१ शंलेशी अवस्था में—मच्छर आदि के साथ काया का संस्पर्श से प्राण का त्याग हो जावे, वह मर भी जावे, तो भी, कर्म का बन्ध होता नहीं, क्योंकि-कर्म बन्ध के उपादान कारण रूप योग नहीं रहता है।

(२-३-४) उपशान्त और क्षीण-मोही, तथा सयोगी केवल जानी भगवंतो को—एक समय का-कर्म का बन्ध होता है, क्योंकि-स्थिति बन्ध के योग्य-अध्यवसाय-उन्हीं को न होने से, स्थिति का बन्ध होता नहीं, (मात्र प्रदेश बन्ध ही होता है, जो उसी समय में निवृत्त हो जाता है।)

(५) अप्रमत्त मुनिराज को—

जघन्य स—अन्तमुहूर्त प्रमाण-स्थिति होती है, और

उत्कृष्ट से—अंतः कोटा कोटि (वर्द्धी) की स्थिति प्रमाण-बन्ध होता है।

(६) प्रमत्त योग में रहे हुए आत्मा को—

अनाकुटिक पना से—स्वयं सामने हो कर प्रवृत्ति न करने से—प्राणी का अवयव का संस्पर्श होने से—प्राणी को पीड़ा-आदि होने से—

१ जघन्य-कर्म बन्ध होता है, और उत्कृष्टता से—प्रथम का जो विशेष विशेष हो, वह बन्ध होता है।”

(परम पूज्य आचार्य महाराज श्री विजय धर्म सूरि महाराज श्री की कृपा से वृत्ति का भाग की प्राप्ति —संपादक)

“बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति न हो,—ऐसे दृष्टान्त में, और बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति हो, ऐसे प्रसंग में भी—एवं दोनों में माध्यस्थ्य रूप एक ही हेतु रहता है ॥६५॥

‡ यह घटाकर बतलाया जाता है,—

एवं चिय मज्झन्थो आणाइ उ कत्थइ पयट्टं तो ।

सेह गिलाणा-ऽऽइ-ऽट्ठा, अ-पवत्तो चैव णायव्वो. ॥६६॥

पञ्चा० १४-१५ ॥

इस प्रकार, मध्यस्थ भाव रखकर, आज्ञा से किसी भी (सावद्य) प्रवृत्ति में प्रवृत्ति की जावे—जैसी कि-नत्रीन शिष्य, रोगी मुनि आदि के पुष्टालंबन पा कर, उसके लिए—महत्त्व के कारण विशेष में(आज्ञा पूर्वक) कुछ भी प्रवृत्ति करनी पड़े, तथापि, उस मुनि को अप्रवृत्त ही समझा जाता है ।

ज्ञानादिक की प्राप्ति के लिए भी जो प्रवृत्ति की जावे, वह—बहार से आश्रव रूप दिखाई देने पर भी—परिश्रव-(अनाश्रव-संवर-निर्जरा) रूप रहने से, सर्व सावद्य योग विरति को अखण्डितता में क्षति आती ही नहीं ॥ ६६ ॥

आणा-पर तंतो सो, सा पुण सव्व-णु-वयणओ चैव ।

एग-ऽंत-हिया विज्जग णाएणं सव्व-जीवाणं. ॥ ६७ ॥

॥ पञ्चा० १४-१६ ॥

‡ इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले श्री मुनिराज, आज्ञा से परतंत्र होकर प्रवृत्ति करते हैं, उसे वह सदोष नहीं होती है ।

आज्ञा भी श्री सर्वज्ञ भगवंत के वचन से ही की गई हो ।

जिन आज्ञा तो एकान्त से ही सुबंध्य की तरह, सर्व जीवों के हितों को करने वाली रहती है ॥ ६७ ॥

विशेषार्थः

वह हित भी सर्व जीवों का होता है, क्योंकि—आज्ञा से होने वाला उपकार दृष्टि भी रहता है, और अदृष्ट भी रहता है । अर्थात्—वह उपकार देखने में—आवे, न भी आवे । तथापि—अवश्य होता रहता है ॥ ६७ ॥

भावं विणा वि एवं होइ पवित्ती. ण बाहए एसा ।

सव्वथ अणा-ऽभिसंगा वि-रइ-भावं सु-साहूसस. ॥ ६८ ॥

॥ पञ्चा० १४-१७ ॥

‡ विरुद्ध भाव बिना भी प्रवृत्ति होती है, सर्वत्र अनासक्त भाव से की जानें वाली-ऐसी प्रवृत्ति-उत्तम साधु का विरति भाव की बाधक नहीं होती ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ

मोक्ष रूप उपेय, और उसके उपाय रूप शुद्ध चारित्र, उसकी इच्छा से रहित जो भाव, अर्थात् संसार की आसक्ति रूप जो भाव हो, वही कर्म बंध का कारण बनता है, किन्तु-अनासक्ति युक्त प्रवृत्ति कर्म के बंध का कारण भूत नहीं होती है। यह रहस्य है ॥ ६८ ॥

उत्सुत्ता पुण बाह्व स-मह-विगप्प-सुद्धा वि नियमेणं ।

गीय गिसिद्ध पवउज्जण-रूवा णवरं णिरऽणुबंधा ॥ ६९ ॥

पञ्चा० १४-१८ ॥

‡ स्वमति कल्पना से, “शुद्ध है” ऐसी समझ होने पर भी, जो प्रवृत्ति उत्सूत्र-सूत्राज्ञा से विरुद्ध हो, -वह तो विरति भाव को बाधा पहुंचाती ही है। वास्तव में-वही अशुद्ध ही होती है।

शास्त्र के वचन है, कि—

“सुंदर-बुद्धि कयं बहुयंपि ण सुंदरं होइ ॥”

[श्री उपदेश माला]

(मात्र) “सुंदर बुद्धि से किया हुआ कार्य बहु होने पर भी, सुंदर नहीं हो सकता है।”

और, गीतार्थ महापुरुषों ने जिस प्रवृत्ति को करने का निषेध किया हो, उसकी आज्ञा को मान्यकर उसको न करने से-उस प्रवृत्ति-आज्ञा पालन रूप-अनाग्रह बुद्धि से की जावे, तो कर्मबन्ध की परंपरा से रहित रहती है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ

एक वस्तु भूल हो जाने पर, गीतार्थ गुरु की उसको न करने की आज्ञा हो जाय-निषेध किया जावे, तो उसका स्वीकार कर, पुनः ऐसी भूलन की जावे, तो कर्मबन्ध की परंपरा चलती नहीं। क्योंकि-ऐसा सरल आत्मा समझाने से

समझाने वाला रहता है, ऐसी उस की सरल और समझदारी रखने की प्रकृति रहती है, जिससे कर्म बन्ध का अनुबन्ध रहता नहीं ॥ ६९ ॥

इअरहा उ, अभिणिवेसा इयरा, ण य मूल-छिज्ज-विरहेणं ।

होएसा एत्तोच्चिय पुव्वा-ऽऽयरिया इमं चाऽऽहुः— ॥ ७० ॥

पञ्चा० १४ १९ ॥

‡ दूसरी रीति से (विचार किया जावे, तो—)

गीतार्थों ने जिसका निषेध किया हो—जो कार्य करने की मनाई की हो,—उसको करे, अर्थात्—मनाई का स्वीकार न कर, उसको करे, अर्थात्—स्वाग्रह के वश वर्ती होकर,—मिथ्या आग्रह से उस कार्य किया जावे, तो वह प्रवृत्ति-कर्म बन्ध की परंपरा को चलाने वाली ही होती है ।

क्योंकि—ऐसी प्रवृत्ति संसार का मूल को उच्छिन्न करने वाला चारित्र गुण के अभाव बिना नहीं हो सकती है । अर्थात्—चारित्र पात्र धानि चारित्र गुण प्राप्त-आत्मा ऐसी प्रवृत्ति किसी भी हालत में कर सकता नहीं है—उसे, वह नहीं ही हो सकती है ।

निषिद्ध प्रवृत्ति भी स्वाग्रह से की जावे तो, उस प्रवृत्ति को सानुबन्ध प्रवृत्ति कहा जाती है । क्योंकि—उससे कर्म बन्ध की परंपरा चलती है ॥७०॥

‡ इस कारण से ही श्री पूर्वाचार्य भगवंतो ने निम्न प्रकार की व्यवस्था बतलाई है,—

“गीअ-ऽत्थो य विहारो, बीओ गीअ-ऽत्थ-मो(नि) सिओ भणिओ. ।

इत्तो तइय-विहारो णा-ऽणुण्णाओ जिण वरेहिं. ॥ ७१ ॥

॥ पञ्चा० १४-२० ॥

गीतार्थ का जो विहार है, वह एक है, क्योंकि—गीतार्थ और उसकी प्रवृत्ति, उन दोनों का अभेद उपचार कर, दोनों को एक ही रूप से कहे गये हैं ।

दूसरा—गीतार्थ निश्चित का विहार कहा गया है । गीतार्थ की आज्ञा में रहा हुआ आत्मा का विहार—मुनि जीवन कहा गया है ।

उन दोनों विहार से रहित तीसरा विहार (श्रामण्य) श्री जिनेश्वर देव ने फरमाया ही नहीं ।

(यहां पर, विहार शब्द का अर्थ—जिस चर्चा से साधु जीवन बना रहे, उस जीवन को समझना चाहिये ॥ ७१ ॥

‡ इस गाथा का भावार्थ समझाया जाता है—

गीअस्स ण उस्सुत्तो. तज्जुत्तस्सेयरस्स वि तहेव.

णियमेण चरणवं, जं, न जाउ आणं विलंघेइ. ॥ ७२ ॥

पञ्चा० १४-२१ ॥

श्री गीतार्थ की प्रवृत्ति उत्सूत्रप्रयुक्त नहीं रहती है. और गीतार्थ युक्त—यानि—गीतार्थ की आज्ञा में जो निष्ठ हो, उस दूसरा की भी प्रवृत्ति ऐसी ही रहती है। (अर्थात्—ससूत्र ही रहती है, उत्सूत्र रूप नहीं रहती है, आज्ञा युक्त रहती है।) क्योंकि—चारित्रवंत आत्मा आज्ञा का उल्लंघन कभी भी करता ही नहीं। क्योंकि—चारित्रवंत आत्मा अज्ञान और प्रमाद से रहित होता है, अर्थात्—ज्ञान और अप्रमाद से—जागरुक भाव से—युक्त रहता है। यह रहस्य है ॥७२॥

ण य गीअ-ऽत्थोअण्णं ण णिवारेइ जोग्गयं मुणेऊणं. ।

एवं दोण्हं वि चरणं परिसुद्धं, अण्णहा णेव. ॥ ७३ ॥

पञ्चा० १४-२२ ॥

‡ अहित में प्रवृत्ति करने वाला अगीतार्थ-अज्ञान आत्मा को गीतार्थ गुरु अहित से रुकावट नहीं करते हैं, ऐसा नहीं, अहित से रुकते ही हैं, । क्योंकि—रोकने योग्य की योग्यता समझकर रुकावट की जाती है ।

और—वह आत्मा रुकावट का स्वीकार भी कर लेती है ।

इस कारण से दोनों का ही चारित्र सुपरिशुद्ध रहता है ॥ ७३ ॥

विशेषार्थः

१ एक-अहित मार्ग से-रुकावट करता है,

२ दूसरा-उसको मान्य कर लेता है,

जिससे-दोनों का चारित्र शुद्ध होता है ॥

जो ऐसा न करे, तो वे दोनों ही शुद्ध चारित्र रहित होते हैं ॥ ७३ ॥

‡ (उपसंहार -)

ता, एवं विरइ-भावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो ।

णियमेणं अट्ठा-रस-सील-ऽंग-सहस्स-रूवो उ. ॥ ७४ ॥

॥ पञ्चा० १४-२३ ॥

इसी कारण से—

इस स्थिति में संपूर्ण विरति भाव को अवश्य होने का समझ लेना चाहिये । जो अठारह हजार शीलांग रूप है । सभी पाप की विरति का परिणाम एक रूप होने से—वह भाव भी एक रूप ही है । यह रहस्य है ॥ ७४ ॥

उणत्तं ण कयाइ वि इमाणं, संखं इमं तु अहिगिच्च,

जं, एय-धरा ते णिहिट्ठा बंदणिज्जा उ. ॥ ७५ ॥

पञ्चा० १४-२४ ॥

(इसी कारण से) संख्या की-अपेक्षा से-शीलाङ्गों की न्यूनता कदापि भी हो सकती नहीं । उसी कारण से-श्री [प्रतिक्रमण] सूत्र में अठारह हजार शीलाङ्गों को धारण करने वाले श्री मुनिराज को वंदन करने योग्य बतलाये है, (अन्य को (ऐसी) वन्दना नहीं की जाती है)

“अट्टारस-सहस्र-शील ऽगत्तरा ।”

(अट्टाहज्जेसु० सूत्र-आवश्यक सूत्र में)

“अट्टारह हजार शीलाङ्गों के धारक (मुनिवरों को वंदना)” इत्यादि वचन के प्रमाण से—सूत्र में वन्दना की गई है ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ

यहां पर समझने का यह है, कि—कुच्छ अल्प अंश में एक आदि उत्तर गुण की न्यूनता होने पर भी, मूल गुणों की स्थिरता की अपेक्षा से, चारित्र शील की योग्यता से शीलांगों की संख्या की पूर्ति समझने की है । प्रतिज्ञा के काल के अध्यक्षस्थान को, और पीछे से अन्य काल के अध्यक्षस्थान को—षट् स्थानक पतित होने पर भी, आगे कहा गया मुजब—

(आत्म-प्रदेश के दृष्टान्त से—अखण्डितता) समानता घटती है ।

और—

“संजम-ठाण-ठियाणं किइकम्मं बह्तिरोण भइअव्वं ।”

[]

“बाह्य संयम स्थानों से भेद मालूम पड़ने से वंदना में भजना रहती है, अर्थात्—न्यूनताधिक वन्दना, वन्दना क्रम, आदि से वंदना के भेद पड़ते हैं (?)”

इस प्रकार जो कहा गया है, वह भी उसी प्रकार से ही घटमान हो सकता है।

इस विषय का अधिक विस्तार हमारा रचा हुआ:-

गुरुनन्व विनिश्चय-ग्रन्थ में है।

अथवा—

“एक अंग की भी न्यूनता नहीं हो सकती है।” इत्यादि जो कहा गया है, उसको उत्सर्ग नियम का विषय समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ

(“उत्सर्ग से-पूरा अठारह हजार अंग) होना चाहिये, अपवाद पद से- कुछ न्यूनाधिकता भी हो सके.” यह भाव मालूम पड़ता है) ॥ ७५ ॥

‡ यह ही कहा जाता है—

ता, संसार-विरत्तो अण-ऽत-मरणा-ऽऽइ रूपमेअं तु ।

णाजं, एअ-विउत्तं मोक्खं च गुरुवएसेणं ॥ ७६ ॥

पञ्चा० १४-२५ ॥

परम-गुरुणो आणं[०णो अ अण ऽहे] आणाए गुणे, तहेव दोसे य, ।

मोक्ख-ऽत्थो पडिवज्जिअ भावेण इमं विमुद्धेणं ॥ ७७ ॥

पञ्चा० १४-२६ ॥

विहिया-ऽणुट्ठाण-परो, सत्त-ऽणुरूवमियरं पि संधंतो, ।

अन्नत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्म-दोसेऽवि, ॥ ७८ ॥

पञ्चा० १४-२७

सव्वत्थ-णिर-ऽभिसंगो, आणा मित्तम्मि सव्वहा जुतो, ।

एग-ऽग्ग-मणो धणियं, तम्मि तहाअ-मूह-लक्खो य, ॥ ७९ ॥

तह, तेल्ल-पत्ति-धारग-णाय-गओ राहा-वेहग-गओ वा ।

एअं चएइ काजं ण उ अण्णो खुद्द-सत्तो त्ति ॥ ८० ॥

पञ्चा १४-२८-२९ ॥

संपूर्ण शीलाङ्गो का पालन का यह कार्य अति दुष्कर कार्य है । इस हेतु से—
शास्त्र के अनुसार गुरु के उपदेश से—

१ (जन्म जरा) मरणादि रूप संसार को अनन्त समझ कर,

२ मरणादि से रहित मोक्ष को भी समझ कर, ॥ ७६ ॥

३ परम गुरु श्री-तीर्थंकर देव की उत्तम आज्ञा के गुणों को समझ कर ,

४ आज्ञा की विराधना के दोषों को समझ कर,

५ मोक्षार्थी हो कर,

६ विशुद्ध भाव से—उपर कहा गया शील का अच्छी तरह से—
स्वीकार कर, ॥ ७७ ॥

७ शास्त्रोक्त विहित अनुष्ठानों में शक्ति अनुसार तत्पर हो कर,

८ दूसरे जो-अनुष्ठान अशक्य है, उनको भी भाव की प्रतिपत्ति से—एवं—
आंतरिक भाव से—करने का अनुसंधान रखता हो,

९ विहित अनुष्ठान शिवाय, दूसरे कार्यों में शक्ति का उपयोग न
लगा कर ,

१० (आत्म विकास कर शील का पालन में) प्रतिबन्ध करने वाले कर्म दोषों
को खपाने वाला ॥ ७८ ॥

११ सभी पदार्थों में आसक्ति रहित—मध्यस्थ,

१२ भगवंत की सभी आज्ञाओं में सर्वथा लगा हुआ, वचन की आराधना में
ही एक निष्ठा रखने वाला— ।

अर्थात्—मन में विस्त्रोतसिका—उत्थल-पात्थल से—विरुद्ध भावों से— रहित होकर,
उस आज्ञा में—जाग्रत भाव के लक्ष्य—रखकर, मूढ़ भाव का लक्ष्य से रहित
हो कर.—तत्पर रहने वाला, ॥ ७९ ॥

१३ (आज्ञा में अतत्परता की—हानि समझकर) तैल पात्र के धारक के दृष्टांत
से, अथवा, राधावेध करने वाला का दृष्टांत से, अप्रमत्ता भाव में सदा
सावधान हो ।

क्षुद्र चित्त वाला—निर्बल मन वाला—आत्मा इस प्रकार करने का अधिकारी

न होने से—इस प्रकार का शील का पालन करने में दूसरी आत्मा शक्ति नहीं रख सकती है ।

विशेषार्थ

तैल पात्र धर की कथा, और राधावेध करने वाला की कथा प्रसिद्ध है—
॥१॥ राजा की आज्ञा का भंग करने वाला को देहान्त दंड की शिक्षा फरमाई गई, उससे बचने का मार्ग यह बतलाया गया, कि “यदि तैल से पूरा भरा हुआ दो पात्र अश्वारूढ होकर, दोनो हाथ में लेकर, नगरभर में फिराने पर भी, एक बिन्दु भी, उसमें से न गिरे, तो तुम बच जायगा” ।

अपराधी ने यह मंजूर किया, और उसी तरह नगर में घूमने लगा । स्थल स्थल पर उसको स्खलित करने के लिए—मन को आकर्षित करने वाले अद्भुत अद्भुत नाटकादि दृश्य स्थापित किये गये । अन्त में पूछा गया कि—“नाटक कैसे थे ?”

उसने कहा—“नाटकादिक क्या ? मैंने तो कुछ भी देखा नहीं ।” उसको छुटकारा दिया गया ।

यदि नाटकादि से आकर्षित हो जाता, तो एकाग्रता का भंग होने से—तैल का बिन्दु भी गिरे तो, मरण सामने था । उसे बचने के लिए कितनी एकाग्रता रखी गई होगी ? ।

उसी तरह—अप्रमत्त भाव से साधक मुनि जीवन का रहस्य बताया गया है ।

॥२॥ “राधा-पुत्तली । उसका वेध-उसकी आंखों में बाण लगाकर उसको बाँध देना, उसका नाम राधा-वेध । उसको करने वाले को भी पूर्ण एकाग्र होना पड़ता है ।

क्योंकि—उस पुत्तली, उपर के एक शीघ्रगामी चक्र में फिरती रहती है । उसकी आंख भी चपला रहती है ।

नीचे-उकलता हुआ तैल का बड़ा भारी कटाह-कड़ाया-रहता है । ऊपर तराजू और उस के दो छाबड़े रहते हैं ।

तराजू के दोनों छाबड़े में दोनों पांव रखकर, तैल की कड़ाह में दृष्टि कर

ऊपर बाण चलाकर, चक्र से फिरती पुत्तली की आंख बीधी जावे, उसको राधावेध कहा जाता है ।

कितना एकाग्र होना पड़े ? सोचिये ।

जरा भी चूक जावे, तो—तेल की कडाह में पड़ जावे, तराजू में दो पाऊं रख कर, समतुला न रख सके, तो भी पड़ जाने का, और लक्ष्य पर बाण को न लगने का भय रहता है, सब होने पर भी, फिरते चक्र में राधा को लक्ष्य बनानी पड़े, फिर भी उसकी चपल आंख की काली कीकी को बींधने का है । फिर भी, स्वमुख नीचा रखकर, भारी धनुष उठाकर, बाण चलाने का रहता है, इस हालत में कितना एकाग्र होना पड़े ? जरा भी चूक जाय, तो परिणाम क्या आवे ?

(सुने हुए दृष्टांत को बाते लिखी गई है ।)

अन्य ग्रन्थ से यथार्थ समझ लें —सम्पादक)

७६-७७-७८-७९-८०

‡ अब पूरा सार कहा जाता है,—

एत्तोच्चिय णिद्धिद्धो पुव्वा-SSयरिएहिं 'भाव साधु' स्ति ।

हंदि पमाण-ठिअ ऽत्थो. तं च पमाण इमं होइ ॥ ८१ ॥

पठ्चा० १४-३० ॥

जिसका पालन करने का खूब कठिनतम कार्य है, इस कारण से—

श्री भद्रबाहु स्वामी आदि पूर्वाचार्य भगवंतो ने भाव साधु को पारमार्थिक यति—मुनि बतलाया है ।

और यह बात—प्रमाण भूत भी है ।

‡ और वह प्रमाण (निम्न गाथा में) इस प्रकार बताया जाता है ॥८१॥

सत्थुत्त-गुणो साधु, ण सेस, इइ[ह] णे [णो] पइण्ण, इह हेउ- ।

अ-गुणत्ता, इति णेओ दिट्ठ-ऽतो पुण सुवण्णं च ॥ ८२ ॥

पठ्चा० १४-३१ ॥

“शास्त्र में कहे हुए गुणों से युक्त को ही साधु कहा गया है, दूसरे को साधु नहीं कहा गया है । ऐसे दूसरे, शास्त्र से बाहर है ।”

इस प्रकार की हमारी प्रतिज्ञा है ।

दूसरे को सच्चा साधु न कहा जाय, उसमें कारण यह है कि—“वे गुण रहित है, ऐसा समझना चाहिये ” अर्थात् साधु के योग्य गुणों से रहित वह रहता है ।
यहां, सुवर्ण का दृष्टांत समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

विशेषार्थ

यहां सुवर्ण का व्यतिरेक दृष्टांत है । सुवर्ण-सोना में जो गुण है, वे गुण जिस साधु में न हो, वह साधु नहीं-ऐसा भाव है, अर्थात्-जिस में सुवर्ण के समान गुण हो, वही सच्चा साधु ॥ ८२ ॥

‡ सोने के गुण बताये जाते हैं—

विस-घाइ-रसा ऽऽयण-मंगल-ऽ त्थ-विणए पयाहिणा-ऽऽवत्ते ।

[ग] गुरुए अ-डङ्गो अकुत्थे अट्ट सु वण्ण-गुणा हुंति. ॥ ८३ ॥

पञ्चा० १४-३२ ॥

सोना-१ विष को-झहर को-विनिष्ट करता है,

२ रसायण रूप है,

३ मंगलों के कार्य करने वाला है,

४ नम्र है-मृदु है, यथेच्छ बल सकता है,

५ अग्नि से गाला जावे, तब स्वभाव से ही दाहिनी ओर घूमता है
(बांया नहीं घूमता है),

६ सारभूत होने से-गुरु है-भारी है,

७ वह भस्म रूप न होने से-अदाह्य है,

८ कभी भी वह सड़ता नहीं ।

‡ सोने में इस प्रकार के आठ मुख्य गुण हैं ॥ ८३ ॥

प्रस्तुत विषय में वे गुण घटायें जाते हैं,—

इह [अ] मोह -विसं घायइ, सिवोवऐसा रसा-ऽऽयणं होइ. ।

गुणओ अ मंगल-ऽत्थं कुणइ, विणीओ अ “जोगं” त्ति. ॥८४॥

मग्ग-ऽणुसारि पयाहिणं, गंभीरो गुरुअओ तहा होइ, ।

कोह-ऽग्गिणा अ-डङ्गो. अ-कुत्थो सइ सील-भावेण. ॥ ८५ ॥

पञ्चा० १४-३३-३४ ॥

(सुसाधु)—

१ कितने ही जीवों का मोह रूप विष का घात करते हैं—मोह को नष्ट करते हैं।

२ कितनेक जीवों को मोक्ष का उपदेश-देकर रसायन रूप बनते हैं,

३ परिणत जीवों के लिए—सुख्य गुणों से मंगल के कार्य करते हैं।

४ स्वभाव से ही योग्य होने से—विनयशील होते हैं ॥ ८४ ॥

५ सन् मार्ग के अनुसरण रूप प्रदक्षिणावर्त-करते हैं—दाहिनी ओर घूमते-हैं, उन्मार्ग में—वाम मार्ग में—नहीं घूमता है,

६ गंभीरता गुण से गुरु है, गौरव युक्त है, गौरव पात्र है।

७ क्रोध रूप अग्नि से कभी भी दग्ध नहीं होते है।

८ और उचित शील को सदा धारण कर रखने से बिगड़ता नहीं—सड़ता नहीं, ताजा ही—प्रसन्न ही—पवित्र ही रहता है ॥ ८५ ॥

एवं दिङ्-ऽन्त-गुणा सज्जम्भि वि एत्थ होंति णायव्वा।

ण हि साहम्ममा ऽ-भावे पायं जं होइ दिङ्-ऽन्तो ॥ ८६ ॥

पञ्चा० १४-११ ॥

विष घाति आदि सोने के जो गुण कह गये, वे साध्य रूप साधु में भी होते है, यह समझ लेना।

क्योंकि—साधर्म्य के—अभाव में—प्रायः दृष्टान्त बनता ही नहीं। (यहां, दोनों के समान धर्म है ही) ॥ ८६ ॥

चउ-कारण-परिसुद्धं कस-छेअ-ताव-तालणाए अ.।

जं, जं विस-घाइ-रसा-ऽऽयणा-ऽऽइ-गुण-संजुअं होइ. ॥ ८७ ॥

इयरम्मि कसा-ऽऽइआ विसिद्ध लेसा, तहैग-सारत्तं,।

अवगारिणि अणुकंपा. वसणे अइ-णिच्चलं चित्तं. ॥ ८८ ॥

पञ्चा० १४-३६-३७ ॥

‡ यह सुसाधु और सोना भी, चार कारणों से शुद्ध होने का मालूम पड़ता है।

चार कारण—

१ कष, २ छेद ३ ताप ४ और—ताडन।

कषादि चार कारणों से की जाती परीक्षा में जो शुद्ध मालूम पड़ता रहे, वह सोना विषघाती-रसायन आदि भाव गुणों से युक्त होता है ॥ ८७ ॥

उसी प्रकार-सुसाधु दाष्टान्तिक में—

अनुक्रम से कषादि चार इस प्रकार घटमान होते हैं—

१ उत्तम लेइया-स्वभाव सौष्ठव रूप-कष परीक्षा है ।

२ अपूर्व सारपना रूप-छेद परीक्षा है ।

३ अपकार करने वालों पर भी-अनुकंपा-हित करने की बुद्धि-हो जाय, वह ताप परीक्षा है ।

४ और कष्ट परंपरा में मन की स्थिति क्षोभ रहित हो-स्थिर हो, वह ताडन परीक्षा है ॥ ८८ ॥

तं कसिण-गुणोवेअं होइ सु-वण्णं, न सेसयं, जुत्ती ।

ण वि णाम-रूव-मिच्छेण' एवम-गुणो हवइ साहू. ॥ ८९ ॥

॥ पञ्चा० १४-३८ ॥

‡ उक्त सभी गुणों से युक्त हो, वही-सच्चा सोना होता है । और दूसरी तरह से-मिश्रण से-बनाया हुआ सच्चा सोना नहीं होता है । वह युक्ति सोना है । उस प्रकार से-जो गुण रहित होते हुए भी, बाह्य नाम और रूप मात्र से सच्चा साधु नहीं होता है ॥ ८९ ॥

जुत्ती सु-वण्णयं पुण सु-वण्ण-वण्णं तु जइ वि कीरिज्जा ।

ण हू होइ तं सु-वण्णं सेसेहिं गुणेहिं अ-संतेहिं. ॥ ९० ॥

पञ्चा० १४-३९ ॥

मिश्रण कर युक्ति से बनाया हुआ कृत्रिम सोना सच्चा सोना नहीं होता है,

क्योंकि-किसी न किसी हालत से वह सोने का पीला रंग धारण कर लेता है, किन्तु-विषघाति आदि शेष सभी गुण नहीं होते हैं ॥ ९० ॥

‡ अब चली आती मूल बात पर ग्रन्थकार श्री आते हैं—

जे इह सुत्ते भणिया साहू-गुणा, तेहिं होइ सो साहू. ।

वण्णेणं जच्च-सु-वण्णयं व-संते गुण-निहिम्मि. ॥ ९१ ॥

पञ्चा० १४-४० ॥

इस शास्त्र में जो जो मूल गुण कहे गये हैं, उनको धारण करने से सच्चा साधु हो सकता है ।

मात्रबाह्य वर्ण होने पर भी विषघाति आदि गुणोंके भंडार हो, तो वह सच्चा सोना और सच्चा साधु होता है ॥ ९१ ॥

‡ [दृष्टान्त घटाया जाता है-]

जो साहू गुण-रहिओ भिक्खं हिंडइ, [ण होइ] कह णु सो साहू ? ।

वण्णेणं जुत्ति-सु-वण्णयं वाऽ-संते गुण-निहिम्मि. ॥ ९२ ॥

पञ्चा० १४-४१ ॥

उद्दिट्ठ-कडं भुंजइ छक्काय पमदणो, घरं कुणइ, ।

पच्चक्खं च जल-गए जो पिवइ, कहं णु सो [साहू ?] भिक्खुसाहू ॥९३॥

पञ्चा० १४-४२ ॥

गुणों से रहित होने पर भी जो साधु भिक्षा लेने के लिए जावे, वह सच्चा साधु किस तरह हो सकता है ?

जिस तरह, मात्र रंग से पीला हो, तथापि-विषघाति-पना आदि गुणों से रहित हो, ऐसा सोना सच्चा सोना नहीं होता है, मिलावट से वह बनाया हुआ रहता है ॥ ९१ ॥

खास जान बूझ कर (आकुट्टिका से) वह औद्देशिक आहार करता है, बे-दरकारी से छ जीव निकाय का मर्दन करे-हिंसा करे, देव के गृह के बहाना से अपने के लिए गृह बना लेवे, और (आकुट्टिका से) जंतु से पूर्ण (सचित्त) पानी पीता है, वह साधु किस तरह माना जाय ? उसको साधु नहीं माना जा सकता ॥ ९३ ॥

अन्ने उ-कसा-ऽऽइआ किर एएऽत्थ हूँति णायव्वा, ।

एयाहिं परिकखाहिं साहू-परिक्खेह कायव्वा. ॥ ९४ ॥

पञ्चा० १४-४३ ॥

अन्य आचार्य महाराजाओं का कथन यह है, कि—

“प्रथम जो कष-छेद आदि से चार प्रकार परीक्षा बतलाई है,—वे औद्देशिक

आहार करना-इत्यादि उपरोक्त चार दोष रहितपना साधु के अधिकार में समझ लेना चाहिये ।” इस प्रकार सचोट परीक्षा से साधु की परीक्षा करने का होता है ॥ ९४ ॥

विशेषार्थ

दूसरे आचार्य महाराजाओं का अभिप्राय भेद यह है, कि—

- १ कष परीक्षा—जान बूझकर उद्दिष्ट आहार न करे,
 - २ छेद परीक्षा—षट्काय का प्रमाद से—निरपेक्षतया-मर्दन न करे,
 - ३ ताप परीक्षा—देव के बहाना से अपना घर न करे,
 - ४ ताडन परीक्षा—किसी भी हालत में सचित्त जल का पान न करे ।
- साधु की परीक्षा के लिए—यह भाव-सार [उच्चकक्षा की] परीक्षा है। अर्थात्—साधु के योग्य सारभूत योग्यता की परीक्षा के यह सचोट साधन है, उसे साधु की परीक्षा हो सकती है ।

बहार से समानता दिखाई देने से—“सु साधु है ? या कुसाधु ?” ऐसा संशय पड़ जाय, तो उसे दूर करने के लिए क्या किया जाय ?

१ शुद्ध आचार को देखकर—शुद्ध साधुपना मानकर प्रथम तथा-अभ्युत्थान वन्दना आदि-की जावे ।

२ परंतु-आगे के लिए कैसा बर्ताव करना ? यह परीक्षा के बाद जो समझ में आवे, ऐसा बर्ताव करना चाहिये ।

सुसाधु मालुम पड़े, तो तदुचित, और कुसाधु मालुम पड़े, तो तदुचित बर्ताव करना चाहिये ।

इस-शास्त्र चर्चा का यह सार है । यह दिशा सूचन मात्र ही है ॥९४॥

‡ उपसंहार किया जाता है—

तम्हा, जे इह सत्ये साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहु. ।

“अच्च-ऽत-सु परिसुद्धेहिं मोक्ख सिद्धि” त्ति काऊणं ॥ ९५ ॥

पञ्चा० १४-४४ ॥

इस कारण से—

इस शास्त्र में—

प्रतिदिन की क्रिया स्वरूप साधु के जो जो गुण कहे गये हैं, उन-अत्यन्त

सुपरिशुद्ध गुणों से ही (शुद्ध) भाव साधु ही होता है,
क्योंकि-ऐसे-उपधा [कसौटियों से] शुद्ध गुणों से ही मोक्ष की-सिद्धि प्राप्त
होती है ।

अन्यथा-(भाव साधुपना विना-मात्र (अप्रधान) द्रव्य रूप साधुपना से मोक्ष
की प्राप्ति नहीं होती है ।

शुद्ध भाव साधुपना विना शुद्ध चारित्र और मोक्ष की प्राप्ति नहीं
होती है ॥ ९५ ॥

॥ सु-साधु-और सुवर्ण का दृष्टान्त का विचार पूरा ॥

‡ (द्रव्य स्तव से भावस्तव की प्राप्ति होती है । इस प्रसंग में भाव स्तव का
स्वरूप विस्तार से बताया गया, और द्रव्य-स्तव और भाव स्तव का जो भेद
बताया जा रहा था, उस विषय को आगे चलाया जाता है ।)

अलमित्थ पसंगेणं. एवं खलु होइ भाव-चरणं तु. ।

“पडिबुज्झिस्संतऽण्णे” भाव-ऽज्जिय-कम्म-जोएणं ॥ ९६ ॥

(प्रमाण पूर्वक भाव स्तव के विषय में जो कहा जाता था-) वह प्रसंग समाप्त
किया जाता है । जिस का स्वरूप ऊपर बताया गया है, उस प्रकार का
भाव चारित्र होता है ।

उस को भाव चारित्र क्यों कहा जाता है ?

“जिसका आलंबन से दूसरे अनेक जीवात्माएं प्रतिबोध पायेंगे,” ऐसा जिना-
यतन कराना आदि द्रव्य स्तव से शुभ-भाव पूर्वक बान्धा गया जो शुभ कर्म,-उस
शुभ कर्म से- आगे जाकर भावस्तव रूप भाव चारित्र की प्राप्ति होती है, जो
मोक्ष को देने वाला होता है । इस कारण से द्रव्यस्तव को भाव चारित्र का कारण
कहा जाता है । यह रहस्य है ॥ ९६ ॥

अ-पडिबुडिय-सुह-चिंता-भाव-ऽज्जिय-कम्म-परिणइए उ. ।

एअस्स जाइ अंतं, तओ सो अराहणं लहइ. ॥ ९७ ॥

पञ्चाशक ७-४८ ॥

अस्खलित शुभ-विचारणा-अज्ञय-अध्यवसाय रूप-भाव से उपार्जित किये गये
कर्म (के उदय के सहयोग) से जो जिनायतन बनवाने की परिणति होती है, उसके

बल से वह आत्मा चारित्र्य का अन्त तक पहुँच जाता है, उसी कारण से, वह आत्मा (द्रव्य स्तव से भी)—शुद्ध आराधना को प्राप्त कर सकता है ॥ ९७ ॥

‡ यही कहा जाता है,—

णिच्छय-नया जमेसा चरण पङ्क्ति-समयओ पभिई ।

आ-मरण-ऽतमऽ[ज]वस्सं संजम-परिपालणं विहिणा. ॥ ९८ ॥

निश्चय नय के मत से तो—इस आराधना—चारित्र्य का स्वीकार करने का समय से लेकर, मरण पर्यन्त निरन्तर विधि पूर्वक संयम का परिपालन करना ही क्योंकि—निश्चयनयके मत से यह ही आराधना है ॥ ९८ ॥

आराहगो य जीवो-सत्त-ऽइ भवेहिं सिज्झइ णियमा ।

संपाविऊण परमं हंदि अह-क्खाय-चारित्तं. । ९९ ॥

इस प्रकार से आराधना करने वाला—आराधक जीव (परमार्थ से) सात आठ भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है ।

किस तरह मोक्ष प्राप्त करता है ?

कषाय के उदय से सर्वथा रहित उत्तम यथा-ख्यात चारित्र्य को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९९ ॥

द्व्व-त्थय-भाव-त्थय-रूवं एअमिह होइ दृढ्व्वं,— ।

अण्णुण्ण-समणुविद्धं णिच्छयओ भणिय-विसयं तु ॥ १०० ॥

पञ्चाशक ६-२३ ॥

‡ इस प्रकार से—

द्रव्य स्तव का और भाव स्तव का स्वरूप यहां ठीक रूप से इस प्रकार समझ लेना चाहिये, कि—

गौण रूप से और प्रधान रूप से प्रत्येक परस्पर में गुंथा हुआ रहता है ।

क्योंकि—दोनों ही—श्री अरिहंत भगवंत की साथ संबंध रखने वाले हैं ॥ १०० ॥

विशेषार्थ

द्रव्य-स्तव और भाव स्तव दोनों ही श्री अरिहंत प्रभु के साथ संबंध रखने वाले हैं, तथापि—दोनों के स्वरूप में भेद भी है, जिस तरह—१ पुष्प पूजा रूप—अंग-पूजा, आमीष-नैवेद्य पूजा रूप—अग्र पूजा, स्तुति रूप—भव पूजा और प्रभुनी

आज्ञा का विशिष्ट प्रकार से पालन रूप देश विरति और सर्वविरति का पालन रूप-प्रतिपत्ति पूजा । उन चारों पूजा श्री अरिहंत प्रभु की भक्ति रूप होने से भी-उत्तरोत्तर में-प्राधान्य-मुख्यता-विशिष्टता रखती है । अर्थात्-अंग पूजा से अग्र पूजा श्रेष्ठ है, अग्र पूजा से भाव पूजा श्रेष्ठ है, भाव पूजा से प्रतिपत्ति पूजा श्रेष्ठ है । उसी तरह द्रव्य-स्तव-भाव स्तव में भी परस्पर के संबन्ध समझना चाहिये ॥१००॥

“जइणो वि हु दव्व त्थय-भेओ अणुमोयणेण अत्थि”-त्ति ।

ए अं च इत्थ णेयं इय सि [सु]द्धं तंत-जुत्तीए . ॥ १०१ ॥

पञ्चा० ६-२८ ॥

‡ मुनिराज को भी अनुमोदना द्वारा द्रव्य-स्तव के लेश-भाग का मिश्रण रहता है । और अनुमोदना शास्त्र-युक्ति से भी इस प्रकार सिद्ध [शुद्ध] होती समझनी चाहिये,- ॥ १०१ ॥

(वह अनुमोदना रूप द्रव्य स्तव का लेश, किस प्रकार है ? वह शास्त्र प्रमाण से बताया जाता है,-)

तंतम्मि वंदणाए पूअण-सक्कार-हेऊ उस्सग्गो ।

जइणो वि हु णिदिट्ठो. ते पुण दव्व-त्थय-स-रूवे . ॥ १०२ ॥

॥ पञ्चा० ६-२९ ॥

शास्त्र में भी, चैत्य वन्दना के अनुष्ठान में-पूजन निमित्तक और सत्कार निमित्तक कार्योत्सर्ग करने का है, सो मुनि को भी करने का बताया गया है ।

‘पूअण-वत्तियाए

सक्कार वत्तियाए’

(श्री अरिहंत-चेइयाणं. नामक चैत्य स्तव सूत्र में इस प्रकार पाठ है ।)

पूजा और सत्कार यह दोनों द्रव्य स्तव रूप है । अन्य स्वरूप नहीं है । १०२ ॥

मल्ला-ऽऽइएहिं पूआ, सक्कारो पवर-वत्थमाईहिं. ।

अणो-विवज्जओ-इह. दुहा वि दव्व-त्थओ इत्थ. ॥ १०३ ॥

॥ पञ्चा० ६-३० ॥

माला आदि से पूजा होती है, और उत्तम वस्त्रादि से सत्कार होता है ।

दूसरे आचार्य महाराज इस वचन में—बिपर्यय व उल्टी रीति से—फरमाते हैं, कि—“पूजा उत्तम वस्त्रादि से की जावे, और सत्कार माला आदि से किया जावे.”

तथापि—दोनों मतों से—द्रव्य स्तव का ही तात्पर्य तो सिद्ध रहता है ॥ १०३ ॥
इसमें ही दूसरी युक्ति भी बताई जाती है,—

ओसरणे बलिमाई ण चेव जं भगवया वि पडिसिद्धं ।

ता, एस अणुण्णाओ डचिआणं गम्मइ तेण ॥ १०४ ॥

॥ पञ्चा० ६-३१ ॥

(भगवंत के) समवसरण में बलि आदि (का वितरण) होता है, उसका श्री तीर्थकर प्रभुने भी निषेध किया ही नहीं है। इससे उस प्रकार का द्रव्य स्तव की आज्ञा श्री तीर्थकर प्रभु की भी जब रहती है। अर्थात्—“जिस प्राणी को जो उचित घटित होता हो, उसको उस कार्य करने की-प्रभु की-अनुज्ञा रहती है,” ऐसा जाना जाता है।

चेष्टा के समान मौन भी अनुज्ञा का सूचक हो सकता है। “प्रभु ने निषेध तो न किया, किन्तु मौन से अनुज्ञात भी किया।” ऐसा समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

“ण य भयवं अणुजाणइ जोगं मोक्ख-वि-गुणं कयाचिदऽवि [दविण्णेयं] ।

ण यऽणुगुणोऽवि तओ [जोगो] ण बहु मओ होइ अण्णोसिं ? ॥ १०५ ॥

पञ्चा० ६-३२ ॥

“मोक्ष से विरुद्ध किसी भी योग को भगवंत कदापि अनुज्ञात करते ही नहीं। क्योंकि—भगवंत मोह से रहित है।” इस कारण से—वह योग-प्रवृत्ति-भी मोक्ष के अनुकूल होने से नहीं है? और दूसरे को भी अत्यन्त मान्य करने के योग्य हो सकती है। बहुमान्य करने योग्य है ही। इस कारण से—वह भी द्रव्य स्तव रूप होने से, अर्थ से भी, अनुमति की कक्षा में शामिल रहती है। यह रहस्य है ॥ १०५ ॥

‡ भगवंत तो भाव की ही अनुमोहना कर सकते हैं, द्रव्य को अनुमोदना नहीं

करते हैं। इस शंका “सत्कार्यं नय की अपेक्षा से—
द्रव्य में भाव की सत्ता का स्वीकार होने से” दूर की जाती है,—

‘जो चेव भाव-लेसो, सो चेव य भगवया बहु-मओ ङ.।’

‘ण तओ विणेयरेणं.’ ति, ‘अत्थओ सो वि एमेव.’ ॥१०६॥

॥ पञ्चा० ६-३३ ॥

“जो लेशमात्र भी भाव हो, उस का ही अनुमोदन भगवंत करते हैं (द्रव्य का नहीं)”

विशेषार्थ

“अपुनर्बन्धक भाव से लेकर चतुर्दश गुण स्थानक तक की सभी अवस्थाओं में जिस भाव का समावेश होता है, उसकी ही अनुमोदना भगवंत करते हैं। उसी कारण से—वे सभी भगवंत की आज्ञा में आ जाते हैं।

क्योंकि—जो जो योग्य कर्तव्य है, वे मोक्ष के साधन होने से, निषेध विना-मौन आदि व्यापार—से, अनुमोदित किये जाते हैं।

यदि ऐसा माना जाय, कि—‘ जो जो हीन कक्षा के अनुष्ठान है, उनकी अनु-मोदना ही नहीं है ।’

तो अतिप्रसंग दोष आ जाता है।

[क्योंकि—तीर्थंकर अवस्था में संभवित शुद्ध प्रवृत्ति को ही प्रभु अनुमोदित करे, और की प्रवृत्ति को अनुमोदित न रखें, कि-जो-स्वअवस्था से हीन हो।

तो—देश-विरति और अन्य साधु की सर्व विरति भी प्रभु से अनुमोदित न रहने से, वे आज्ञा सिद्ध कर्तव्य ठहरेगा ही नहीं। यह बड़ा दोष बहुत सी बातों में आ जायगा। और कोई धर्मानुष्ठान आज्ञा-सिद्ध नहीं रहेगा।]

यह बात उपदेश रहस्य में हमने कही है—

‘जइ हीणं दव्व-त्थयं अणुमणेज्जा ण, संजमो.’ ति मई,

‘ता कस्स विमुह-जोगं तित्थ-यरो णा-ऽणुमणिज्ज ? ति’ ।

अर्थ: “यदि हीन अनुष्ठान होने से द्रव्य स्तव को [श्री तीर्थंकर प्रभु] अनुमोदित न रखे, और संयम ही अनुमोदना के योग्य माना जाय, तो—

“श्री तीर्थंकर प्रभु किसी का भी विशुद्ध योग की अनुमादना न कर सके।” ऐसा फलित होगा। (?)

इस से—“वह लेशमात्र भी भाव, अर्थ से, द्रव्य से रहित नहीं होता है ।

इस कारण से—“भाव की साथ उस की भी-द्रव्यस्तव की भी-अनुमोदना होती है, वह भी अनुमोदना के पात्र है ।

[पञ्च वस्तु मध्य—इस गाथा की टीका इस प्रकार है—

“यः एव भाव-लेशो बल्याऽऽदौ क्रियमाणे,

स एव च भगवतस्तीर्थ-करस्य बहुमतः” ।

इत्याऽऽशङ्क्याऽऽह—

नाऽसौ भाव-लेशो विनेतरणे ण-द्रव्य स्तवेन, इत्य-ऽर्थः ।

सोऽपि द्रव्य-स्तवः एवमेव-अनुमतः । इति गाथा ऽर्थः ।

अर्थः

बलि आदि करने में भाव का जो लेश भाग है, वही प्रभु को बहुमत है, (द्रव्य-द्रव्य-स्तव नहीं) ।

(ऐसी शंका उठाकर समाधान किया जाता है, कि) “वह भाव लेश भी द्रव्य स्तव से रहित नहीं होता है, इस कारण से—वह भी ऐसा होता है अर्थात्—वह भी (द्रव्य स्तव भी) अनुमत होता है ।]

‡ यही स्पष्ट किया जाता है,—

“कज्जं इच्छंतेणं अण-ऽंतरं कारणं पि इडं” ति ।

जह आहार-ज-तिसिं इच्छंतेणेह आहारो ॥ १०७ ॥

पञ्चा० ६-३४ ॥

जो कार्य की अपेक्षा रखता है, उसको मोक्ष रूप फल को देने वाला नजदीक के कारण की भी अपेक्षा रखनी ही पड़ती है ।

किस तरह ?

“इस लोक में भी, आहार से होने वाली तृप्ति को जो इच्छता है, उसको आहार करने का भी इष्ट रहता ही है” ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ

यहां प्रश्न होता है, कि—

“द्रव्य स्तव से, द्रव्य स्तव की प्राप्ति के बीच अर्ध पुद्गल परावर्तन काल का

अंतर रहता है, तथापि-उस द्रव्य स्तव का अनन्तर कारण किस तरह कहा जा सकता है ?”

उसका जवाब यह है कि—

“ऋजु सूत्र आदि नय से अनन्तर कारणपना समझना चाहिये ।”

उस नय से कथंचित्-उस स्थान का अनन्तर-पूर्ववर्ति भावों को पकड़ कर अनन्तर कारणता समझी जावे ।

और व्यवहार नय से —

द्वारका व्यवधान से द्वारी अन्यथा सिद्ध नहीं सिद्ध हो जाता है, (घट की उत्पत्ति में दंडका चाकको भमाने में जो भमाने का व्यापार होता है, वही नजदीक का कारण-अनन्तर कारण बनता है, तो दण्ड को कारण नहीं माना जाय ?। (ऐसा न करना चाहिये, क्योंकि—) दंड भमाने की क्रिया द्वारा घट में कारण रहता है, उसी कारण से-दण्ड को-(द्वारिको) अन्यथा सिद्ध (निकम्मा) नहीं माना जाता है। इसे व्यवहार नय से-दण्ड घट का निकट का अनन्तर कारण है ही ।

यह बात अध्यात्ममत परोक्षा आदि में स्पष्टता से सिद्ध की गई है ॥१०७॥

‡ श्री जिनभवनादि में भी आज्ञा का विधान किस तरह माना जाय ? वह कहा जाता है—

जिण भवण-कारणा-ऽऽइ वि भरहा-ऽऽइणं ण निवारियं तेणं, ।

जह तेसिं चिय “कामा सल्लं, विसा”-ऽऽईहिं णाए [वयणे] हिं ॥१०८॥

पञ्चा० ६-३५ ॥

जिस तरह श्री ऋषभदेव प्रभु ने “कामो-विषयो-शल्य समान है, विष समान है” ऐसा कह कर जिस तरह दृष्टान्त से निषेध किया है-न करने को कहा है। उसी तरह भरत आदि श्रावकों को जिनमन्दिर आदि बनाने का निषेध आदि प्रभु ने नहीं किया है ।

यदि निषेधा होता, तो दिषट्टमेवा तरह करने को निषेध फरमाते ।

विशेषार्थ

“सल्लं कामा, विसं कामा”

इत्यादि शास्त्र-प्रसिद्ध वाक्यों से निषेध किया गया है ॥१०८॥

ता तं पि अणुमयं चिय अ-पडिसेहाओ तंत-जुत्तीए ।

इय सेसा ण वि इत्थं अणुमोअणमाऽऽइ अ-विरुद्धं ॥१०९॥

पञ्चा० ६-३६ ॥

उसी कारण से तंत्र शास्त्र-युक्ति से-समझा जाता है, कि-“जिसका निषेध न किया गया हो, उसको “अनुमत किया है ।” ऐसा समझना चाहिये ।

“अ-निषिद्धमऽनुमतम् ।” यह तन्त्र-शास्त्रीय युक्ति है ।

अर्थ: “जिसका निषेध न किया गया हो, उसको अनुमत समझना चाहिये ।”

इस प्रकार—

श्री तीर्थंकर देव ने जो अनुमत रखा है, उसमें, और साधुओं के लिए भी द्रव्य स्तव में अनुमोदना निषिद्ध नहीं है । (किंतु-आज्ञा सिद्ध ही है) ॥१०९॥

विशेषार्थः

आदि शब्द से (जिन भवनादि को) कराने का उपदेश आदि भी (अनुमत में) समझ लेना रहता है ॥१०९॥

‡ उसमें दूसरी भी युक्ति दी जाती है—

जं च, चउड्ढा भणिओ विणओ. उवयारिओ उ जो तत्थ, ।

सो नित्थ-यरे णियमा ण होइ दव्व-त्थयादऽण्णो ॥११०॥

पञ्चा० ६-३७॥

दूसरा भी—

चार प्रकार के विनय (शास्त्रों में) बताया गया है । उनमें जो (चौथा) उपचार विनय बताया है, वह विनय श्री तीर्थंकर प्रभु का द्रव्य स्तव से दूसरा नहीं है ॥११०॥

विशेषार्थः

अर्थात्—द्रव्य-स्तव ही उपचार विनय रूप है । (अथवा, द्रव्य स्तव उपचार विनय रूप ही है ॥११०॥

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह् हंदि वंदणाए वि ।

पूअणमा-ऽऽदुच्चारणमुववन्नं होइ जइणो वि. ॥१११॥

पञ्चा० ६-३८ ॥

इस (उपचार विनय रूप *द्रव्यस्तव) को संपादन कराने के लिए ही श्री-वन्दना सूत्र में भी—

पूअण० (वत्तियाए) इत्यादि का जो (शब्दशः) उच्चारण किया गया है, वह मुनि को भी बराबर घटता है ॥१११॥

इअरहा, अण-ऽत्थगं तं. ण य तयऽणुच्चारणेण सा भणिया ।

ता, अभिसंधारणमो संपाडणमिड्ढमेअस्स. ॥११२॥

पञ्चा० ६-३९ ॥

जो एसा न हो तो, श्री (वन्दनासूत्र में जो उच्चारण किया गया है), वह निरर्थक हो जाता है ।

और, उस सूत्र के उच्चार विना मुनि की वन्दना नहीं कही गई है ।

इस कारण से, खास विशिष्ट प्रकार की इच्छा से-भाव से-मुनि को भी द्रव्य-स्तव संपादित करने का रहता है ॥११२॥

सक्खं उ कसिण-संजम-दब्बा-ऽ-भावेहिं णो अयं जइणो [इट्ठो].।

गम्मइ तंत-ट्ठिए-“भाव-प्पहाणा हि मुणओ” त्ति. ॥११३॥

पञ्चा० ६-४० ॥

संपूर्ण संयम से और द्रव्य (धनादि पदार्थ) के अभाव से यह (द्रव्यस्तव) मुनि को साक्षात् स्वरूप से नहीं माना गया है ।

और पूर्वापरका विचार करने से, यह बात शास्त्रयुक्ति से भी ठीक बैठती है, कि—

“मुनिमहात्माएँ भाव की मुख्यता वाले हैं”

“भाव-प्रधाना हि मुनयः”

इसी कारण से—मुनि में द्रव्यस्तव गौणरूप में रहता है, मुख्य रूप में नहीं ॥११३॥

एएहिं तो अण्णे धम्मा-हिगारीह जे उ, तेसिं तु ।

सक्खं चिय विण्णेयो भावा-ऽगत्तया, जओ भणियं- ॥११४॥

॥ पञ्चा० ६-४१ ॥

*“ज्ञान दर्शन-चारित्र्योपचारा’ ९-२३”

श्री तत्त्वार्थाऽधिगम सूत्र ।

“ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र्य विनय और उपचार विनय । ९-२३”

उन [मुनि] के सिवाय जो श्रावकवर्ग इस (द्रव्यस्तव) में अधिकारी है, वह तो भावस्तव का अंगरूप होने से द्रव्य स्तव के साक्षात् अधिकारी हैं ॥११४॥ जिससे कहा गया है, कि—

“अ-कसिण-पवत्तगाणं विरया ऽ-विरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसार-पयणु-करणो दब्ब त्थए कूव-दिट्ठ-ऽन्तो,”* ॥११५॥

पठचा० ६-४२ ॥

“संपूर्ण संयमधारी न होने पर भी—कुछ अंश में विरत, और कुछ अंश में अविरत, एवं देशविरतिधर आत्माओं को शुभ का अनुबंध—शुभ की परंपरा-कराने वाला होने से, एवंसंसार को घटाने वाला होने से यह द्रव्य स्तव उचित है—योग्य है ।

द्रव्यस्तव के विषय में कूपका दृष्टान्त जानना चाहिये । जो उसकी कथा से जाना जाता है ॥११५॥

विशेषार्थ

कूप के दृष्टान्त पर संक्षिप्त विचार—

नवीन नगर की स्थापना करने के समय पानी के लिये कूवां बिना पानी कहां से मिले ? तो कूवे का खनन करते समय श्रम, तृष्णा, कर्दमलेप, आदि कष्ट होते हैं, किन्तु कूप तैयार होने के बाद जलपान, स्नान, आदि से आराम-शान्ति-मिलती है, स्वच्छता होती है, और अन्य लोग भी लाभ उठाते हैं । उसी तरह, जो भावस्तव नहीं कर सकता है, उसको संसार से छुटने के लिए अल्पदोष युक्त होने पर बहुगुण युक्त एवं—भावस्तव में कारणभूत-द्रव्यस्तव अवश्य कर्तव्य है । १८ सहस्र शीलांगरूप भावस्तव जिससे न हो सके, तो “कुछ भी न करना चारिये ?” कुछ करना यदि चाहे, तो क्या करना चाहिये ? भावस्तव के कारणभूत द्रव्यस्तव करना ही चाहिये ।*

* प्रायः आशय्यक निर्युक्ति से यह गाथा ली गई हो, ऐसा मालूम पड़ता है ।

* यदि द्रव्यस्तव करना चाहे, तो किस प्रकार करना चाहिये ? क्योंकि उसमें भी थोड़ा बहुत आरंभ समारंभ होता है, राग द्वेष की संभावना भी रहती है ही, यह बात सत्य है] तो “कुछ नहीं करना चाहिये यदि ऐसा निर्णय किया जाय” ठीक है, कुछ भी न करना चाहिये । सोते रहे, या बैठे रहे वे ! बैठे क्यों रहे वे ? तो खारें पीवें किस तरह ? कुटुम्ब का परिपालन कैसे किया जाय ? तो गृहकार्य, व्यवसाय आदि करना ही पड़े, तो उसमें धर्म कार्य क्या हुआ ? वे सभी तो सांसारिक कार्य हुए । तो मोक्षभिलाषी जीव को द्रव्यस्तव रूप धर्म-कार्य अवश्य करना चाहिये ।

द्रव्यस्तव की व्याख्या क्या है ? "भावस्तव की प्राप्ति के लिए भावस्तव सिवाय जो कुछ धर्म प्रवृत्ति की जावे, वे सभी द्रव्यस्तव रूप है। देव-गुरु धर्म के प्रणिधान पूर्वक जो कुछ किया जाय, वे सभी द्रव्यस्तव में समाविष्ट होते हैं। जिनपूजा, तीर्थ यात्रा सम्यक्त्वमूल बारह व्रत, आदि सभी भावस्तव से व्यतिरिक्त उन सभी धर्मकार्य का समावेश द्रव्य स्तव में होता है।

सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देश विरति सामायिक (और उपलक्षण से मार्गानुसार भाव से) जो किया जाय, उन सभी का समावेश द्रव्य-स्तव में होता है। शीलांग सम्यग् चारित्र रूप है। सम्यग् दर्शन-ज्ञान रूप द्रव्य-स्तव उचित रूप में मुनि कर सकते हैं, और अनुमोदना भी,

इस कारण से छोटा बड़ा जो कुछ धर्मकार्य किया जाय, उसमें कुछ न कुछ प्रवृत्ति रहेगी ही, तो हिंसा आदि होने की संभावना और शक्यता भी अवश्य है ही। तो भाव स्तव के सिवाय कहीं भी धर्म की संभावना नहीं रहेगी।

अत एव, उनमें देव-गुरु-धर्म संबन्धि जो और जितना प्रणिधान होता है, वह मुख्यतया द्रव्यस्तव है, प्राणिधान स्वरूप से तो उसको भावस्तव भी कहा जाय, किन्तु, साथ में अन्य-हिंसा आदि का सम्पर्क होने से द्रव्य विशेषण दिया गया है। भावस्तव में भी शुभ और शुद्ध प्रणिधान होता है। द्रव्यस्तव में भी शुभ और अल्प मात्रा में शुद्ध प्रणिधान रहता है, इस कारण से दोनों को सामान्य स्तव शब्द से कहे गये हैं।

यदि प्रणिधान न हो, तो दोनों ही स्तव शब्द से वाच्य न किया जा सकता है। प्रणिधान रहित द्रव्यस्तव को भी द्रव्यस्तव नहीं कहा जा सकता, अप्रधान-दिखावा मात्र का-द्रव्यस्तव भले ही कहा जाय।

जिन-पूजा, विधि-भक्ति-यतना और औचित्य पूर्वक की जावे, तो वह भी द्रव्यस्तव ही है। विधि में आज्ञाका पालन होता है। भक्ति में प्रभु का प्रणिधान रहता है, यतना में अहिंसा आदि का पालन होता है। औचित्य में विवेक की जाग्रती रहती है। जिन-पूजा में दान-शील-तप भाव भी रहता है।

जिन मंदिर में जितने समय अशुभ का भी अनाश्रव-संवर रहे, उतने समय कर्मबंध में जो फरक पड़ जाय, थोड़ा भी जिनका प्रणिधान अनाश्रव का लाभ

देवे ही । शुभाश्रव, संवर, निर्जरा; महानिर्जरा का निमित्त जिन देव का प्रणिधान क्यों न बन सके ? किसी भी हालत में भावपूर्वक जिनदेव का प्रणाम अतिफल देता है “तुज्ज्ञ पणामो वि बहुफलो होइ” “आपको प्रणाम भी बहुत फल देता है ।

“स्वन्नाम-कीर्तन”—आपका नाम का कीर्तन-उच्चारण भी फल देता है, स्मरण भी ।

जिनमंदिर, जिनप्रतिमा का-दर्शन-स्पर्शन स्मरण भी जिनदेव के स्मरण में खूब निमित्तभूत होते ही हैं । तो स्मारक आत्मा की विशुद्धि के अनुसार अवश्य अशुभ का अनाश्रव आदि फलों को क्यों न देवे ? दूसरे दुन्यवी प्रत्यक्ष फल मात्र के फलों की कल्पना जैन शास्त्रों में नहीं है । वे आनुषंगिक फल है ।

अशुभ का अनाश्रवादि भी बड़ा भारी फल को भी फलों की कक्षा में बताया गया है । उसी कारण से जिन प्रतिमा के पूजादिक आध्यात्मिक सुफल सो शून्य नहीं है, क्योंकि-आभिगमिक-एवं साधनों से होने वाले सभी प्रकार के आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति में तीर्थ-स्थापक श्री तीर्थकर-जिनदेव-प्रधान साधन है, मुख्य है, मूलभूत है । उनका थोड़ा भी प्रणिधान आध्यात्मिक विकास के क्या क्या फल न देवे ? वे प्रतिमा द्वारा भी सुलभ और सर्वोत्कृष्ट प्रणिध्येय रूप है ।

जो आत्मा स्वात्म प्रणिधान से प्रणिध्येय कक्षा को पहुँच जाय, उसको आवश्यकता नहीं । किन्तु, वह भी औरों के लिए जिनदेव-सुगुरु-सुधर्म का प्रणिध्येयपणा का निषेध नहीं करे । निषेध करे तो, मार्गध्वंसरूप अनाचार दोष लग जाय । किन्तु, उस कक्षा के महात्माओं के लिए ऐसी संभावना ही नहीं है । अन्यथा श्री तीर्थकर प्रभु अपनी कक्षा के निम्न कक्षा के लिए तत् तत् विविध धर्माचरण का उपदेश दे भी न सके । न दे सके ? यथा पात्र के योग्य उपदेश अवश्य दे सके ।

तो कूप के दृष्टान्त से जिस तरह गुण और दोष दोनों रहते हैं, तरह-जिन पूजा में भी कुछ धर्म कुछ अधर्म ऐसा समझना चाहिये ? ना, ऐसा नहीं, धर्म ही कहना चाहिये। क्यों ? निश्चय नय की दृष्टि से दोष में तो पड़ा ही था। दोष तो होते ही हैं। आग से भागना ही पड़ता है। किन्तु, बच जाने का फल मिलता है। यदि न भागे, तो मरना पड़े, उसी तरह शुभ और शुद्ध प्रणिधान की प्राप्ति आवश्यक है, उसके लिए स्नानादि भी द्रव्यस्तव में समाविष्ट होता है। जिन पूजा के लिए स्नानादि भी द्रव्यस्तव ही है। शरीर को स्वच्छ रखने के लिए स्नान क्रिया जाय तो वह सांसारिक प्रवृत्ति का अंग बनता है। स्नान में भी यह भेद पड़ता है जिसमें श्री जिनेश्वर देव जैसे सर्वोत्कृष्ट पुष्टालंबन प्रणिध्येय रूप है, तो उसको स्तव क्यों न कहा जाय ? धर्म क्यों न कहा जाय ? प्रणिधान धर्म ही है। और उसमें सहायक भी धर्म ही है। प्रणिधान शून्य हो, तो द्रव्यस्तव भी नहीं।

तो उस कक्षा के जीव के लिए वह धर्म ही है। धर्म की नय सापेक्ष-संख्याबद्ध व्याख्याएं हैं, उनमें से किसी एक जो व्याख्या लागू होती है। उस कक्षा की व्याख्या से वह धर्म ही कहा जाय। 'धर्म और अधर्म' ऐसा भी न कहा जाय। गृहस्थ सुमुनि को दान देवें, उसमें भी कई प्रवृत्ति होती है। हिंसा की भी संभावना रहती है, अवश्य रहती है, तो उसको भी धर्माधर्म कहा जाय ? नहीं। व्यवहार नय से-दानधर्म ही कहा जाय।

भावस्तव संबंधी धर्म की व्याख्या (निश्चय नय) की अपेक्षा से—“धर्माधर्म” कहा जाय। किन्तु, द्रव्यस्तव की अपेक्षा धर्म की व्याख्या से—धर्म ही कहा जाय। धर्माधर्म नहीं। तैयार कूप से पानी मिल जाय, उसकी अपेक्षा से, खोदना पड़े, ऐसा कूप में दोष और गुण दोनों देखा जाय। जल प्राप्त करने वाले को सामने दोष नहीं आता, जल प्राप्ति ही रहती है। अन्य रीति से जल प्राप्ति के अभाव में—कूपखनन, उससे जल निकालना, आदि दोषरूप न होकर, गुणरूप ही बनता है। देखने में दोष भी गुण के लिए होने से, गुणरूप बनता है, अन्यथा, गुणप्राप्ति कभी भी संभवित नहीं।

प्रधानतया धर्म होने से उस कक्षा के जीवों के लिए व्यवहार नयसे धर्म ही कहना सशस्त्र और युक्ति सिद्ध भी है।

‡ फिर भी शंका उठाकर उसका समाधान भी किया जाता है—

“सो खलु पुष्पा-ऽऽइओ तत्थुत्तो, ण जिण-भवणा-ऽऽई वि. ?” ।

“आइ”-सदा वुत्तो.” “तय-ऽऽ-भावे कस्स पुष्पा-ऽऽई ?” ॥११६॥

“वह द्रव्य-स्तव पुष्पादिक रूप से वहां कहा गया है ।

“पुष्पा-ऽऽइ [दीयं] ण इच्छंति”

“पुष्पादिक को इच्छता नहीं,”

“यह निषेध-भावस्तव प्रधान मुनि के लिए किया गया होने से—उसको प्रतिषेध-निषेध है, तो प्रत्यासत्ति न्याय से—(श्रावक के लिए) पुष्पादि का उपयोग करने का कहा गया है” । “किन्तु, जिनभवनादि कर-कराकर द्रव्यस्तव को करने का वहां कहा नहीं है, तो—उसको वह करने का अधिकार नहीं है ।”

धूलि में खेलता बालक माता-पिता और गुरु को देख कर हाथ जोड़ लेता है, प्रणाम करता है । तो—प्रणाम स्वरूप की कर्तव्यता की मुख्यता होने से—खड़ा होना, हाथ जोड़ना इत्यादि में काययोग की देखने में सावद्य प्रवृत्ति अवश्य होने पर भी “विनय धर्म किया” ऐसा ही माना जायगा, कहा जायगा ।

यदि, ‘मोक्षाभिलाषी जीव को द्रव्य स्तव करने का नहीं है तो, भावस्तव कर ले ।’ अच्छी बात है, किन्तु—भावस्तव न करना हो—न कर सके, उस को द्रव्यस्तव अवश्य करना होगा । वह थोड़ा भी न करना हो, तो वह “मोक्षाभिलाषी अभी तक नहीं हुआ है ।” यह ही मानना पड़ेगा । द्रव्यस्तव की कक्षा में कई प्रवृत्तियों का समावेश होता है, इसमें से किसी को भी—द्रव्यस्तव की कक्षा से टाल नहीं सकते हैं । कोई जीव एक प्रवृत्ति करे, दूसरा जीव दूसरी कोई प्रवृत्ति इसमें से करे । वे द्रव्य स्तव है । अभव्य जीव का सत्प्रणिधान शून्य मुनि पना भी भावस्तव नहीं है, किन्तु, प्रधान द्रव्यस्तव भी नहीं है । सिवाय, अंशतः श्रुत सामायिक का लाभ हो, जिससे वह नवम प्रैवेयक तक जा सकता है, किन्तु व्यवहार नय से इसकी भी गणना नहीं की जाती । उसको प्रैवयेक पना की प्राप्ति, अंशतः भी कुछ द्रव्य स्तव होने से होता है । अन्यथा, इतना भी उच्च स्थान पर किस तरह जा सके ? किन्तु मोक्ष प्राप्ति रूप प्रणिधान की अपेक्षा से वह कुछ भी नहीं । (विशेषज्ञ पुरुषों की कृपा से संशोधन करो ।

सामान्य समझ के आत्माओं के लिए स्वसमझ अनुसार कुछ स्पष्टता की गई है ।

“समाधान-“आदि” शब्द से जिन भवनादि करने-कराने का भी कहा है, क्योंकि-जिन-भवादिक के अभाव से-पुष्पादिक किस को चढाया जाय ? किसके लिए हो ? ॥११६॥

“नणु तत्थेव य मुणिणो पुष्पा-ऽऽइ णिवारणं फुडं अत्थि.”

अत्थि तयं, सयं करणं पडुच्च, नऽणु-मोयणा-ऽऽइ वि. ॥११७॥

‡ “उस स्थान पर-स्तव के अधिकार में-पुष्पादिक का जो निवारण किया गया है, वह मुनिराज के लिए ही किया गया है ।”

“णो कसिण-संजमं०”

“पूरा संयम में (पुष्पादिक का उपयोग मुनिराज इच्छते नहीं)” इत्यादि वचन से-निषेध जरूर किया गया है, किन्तु वह निषेध स्वयं पुष्पादिक का उपयोग करने की अपेक्षा से किया गया है ।

किन्तु-अनुमोदनादिक की अपेक्षा से नहीं किया गया है ॥११७॥

‡ उसका ही समर्थन किया जाता है,—

सुव्वइ अ “वयर-रिसिणा कारवणं णि अ अणुट्टिअमिमस्स.” ।

वायग गंथेसु तहा एअ-गया देसणा चेव. ॥ ११८ ॥

पञ्चा० ६-४५ ॥

सुना जाता है कि—

“श्री (पूर्वधर) वज्रस्वामी महाराज श्री ने-कराया भी है, (और-तत्त्व से-किया भी है ।”)

अर्थात्-द्रव्यस्तव का अनुष्ठान किया भी है ।

* “माहेसरीउ पुरीउ०” इत्यादि गाथा में-यह वृत्तान्त कहा गया है ।

“माहेश्वरी नगरी से पुरी नगरी.”

इससे जाना जाता है ।

* माहेसरीउ सेसा-पुरियं नीआहुआसण-गिहाओ ।

गयण-तलमऽइवइत्ता वइरेण महा-ऽणुभावेण ॥”

“राजायुक्त माहेश्वरी नगरी जाकर, हुताशन व्यन्तर जो पिता का मित्र था, उसका गृहभूत उद्यान से महानुभाव श्री वज्रस्वामीजी आकाशमार्ग को लांघ कर पुष्पसंपद् “पुरी नाम नगरी में लाये ।” इत्यादिक कथानक उक्त गाथा से सूचित होता है ।

और—

श्री (उमास्वाति) वाचक महाराज के ग्रन्थ में भी इस विषय पर [जिन भवन बनाना इत्यादिक द्रव्यस्तव बनाने का उपदेश संबन्धी] देशना दी गई है—सुनी जाती है ।

“यस्तृण-मयीं कुटीं०” इत्यादि से [पूजा प्रकरण]

और, “जिन-भवनम्०” इत्यादि, ‘जिनभवन बनाना’ इत्यादि भी [प्रशमरति]

विशेषार्थः

[धर्म रत्नमाला आदि ग्रन्थों में भी इस विषय की देशना सुनी जाती है ।
पंचवस्तु से]

और वाचक श्री के ग्रन्थ में भी सुना जाता है ॥११८॥

‡ (नया प्रश्न—)

धर्म में हिंसा-अहिंसा

आहे [ह, :- ‘ ए]वं हिंसा वि द्धु धम्माय ण दोस-यारिणी” त्ति ठियं ।

एवं च—“वेय-विहिया णेच्छिज्जह सेहवामोहो.” ॥११९॥

पूर्वपक्षकार कह रहा है, कि—

“इस प्रकार से सोचा जाय, तो—“धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा दोषोत्पादक-दोषरूप नहीं है,” ऐसा सिद्धांत स्थिर हो जाता है । उसके बिना द्रव्यस्तव नहीं होता । और इस प्रकार से—“वेद में जो हिंसा देखी जाती है, वह हिंसा को अहिंसातया क्यों नहीं मानी जायगी? ऐसा न मानना, यह एक प्रकार का व्यामोह है—(अपना) अज्ञान है ।” ॥११९॥

विशेषार्थः

“दोनों समान होने से वेद-विहित हिंसा को भी, धर्म के लिए होने से धर्म कहना चाहिये, जिस तरह-जिन पूजा में होती हुई हिंसा-धर्म रूप मानी जाती है । दोनों समान स्थिति में हैं” पूर्व पक्ष का यह तात्पर्य है ॥११९॥

“पीड़ा-गारी त्ति अह सा.” “तुल्लमिणं हंदि अहिगयाए वि. ।

ण य पीडाउ अ-धम्मो णियमा, विज्जेण वभिचारा.” ॥१२०॥

‡ जवाब दिया जायगा, कि—“यह (वेदविहित हिंसा) पीड़ा करने वाली है ।”

“तो—यहां चर्चा का विषय भूत जिन भवनादि गत) प्रस्तुत हिंसा भी

पीडा करने वाली रहती है, इससे दोनों में समानता है ।

‡ “पीडा से अधर्म होता ही है,” ऐसा नियम भी नहीं है—ऐसा नियत नियम नहीं। जो ऐसा नियम रखा जाय, तो बंद्य के कार्य में दोष-आ जाय, (क्योंकि—छेदन भेदनादि से पीडा करने पर अधर्म हो जाय किन्तु उसमें अधर्म नहीं कहा जाता है । क्योंकि—रोगी को बचाने की अहिंसा फलित होती है” ॥१२०॥

विशेषार्थ

हित करने वाला बंद्य का औषध-से पीडा की उत्पत्ति होने पर भी, व्रण के छेदन-भेदन आदि से अधर्म नहीं होता है ॥१२०॥

“अह, तेसिं परिणामे सुहं तु.” “तेसिं पि सुव्वइ एअं” ।

तज्जणणे वि ण धम्मो भणिओ पर-दारगाऽऽईणं.” ॥१२१॥

‡ “अब, (जिनभवानादि कराने में जीवों की हिंसा होने पर भी) उन जीवों को परिणाम में—आखर में—सुख होता है” ऐसा यदि कहा जाय, तो (यज्ञ में भी जिसकी हिंसा होती है) उन जीवों को भी (स्वर्गादि का सुख मिलता है) । ऐसा (शास्त्रों में) सुना जाता है ।”

“सुख मिलने पर भी परस्त्री का सेवन करने वालों को भी धर्म नहीं होता है,” ऐसा शास्त्र में कहा गया है । (इससे सुख मिलने पर भी धर्म हो ऐसा नियम नहीं है ।) ॥१२१॥

“सिय “तत्थ सुहो भावो तं कुणभाणस्स” “तुल्लमेअंपि. ।

इयरस्स वि सुहो च्चिय णेयो इयरं कुणंतस्स.” ॥१२२॥

‡ “ठीक है, किन्तु ऐसा कहा जायगा कि—इसमें (जिनभवनादि कराने में) उसे करने वालों का शुभ भाव रहता है ।” “ऐसा आपका यदि कहना होगा” तो भी दोनों में समानता ही है । क्योंकि—वेद में कहे यज्ञ आदि के विधान से, वेद में कही हुई हिंसा को करने वाले दूसरों को भी शुभ भाव होता है, ऐसा जानना चाहिए” ॥१२२॥

“एगिंदियाऽऽई अह ते” “इयरे थोव.” “ता” किमेएणं ।”

“धम्म-ऽत्थं सव्वं च्चिय वयण एसा न दुट्ठं ति.” ॥१२३॥

‡ (कहा जायगा कि—) “जिनभवनादि में एकेन्द्रिय आदिक जीवों की हिंसा होती है ।”

“तो यज्ञ में वेद से हिंसा थोड़े जीवों की ही होती है।”

‡ “एसा आग्रह से” कहने का क्या है ?

‡ “कहना यह है कि—समानता है। शास्त्र वचनों से (वैसी हिंसा भी) सभी धर्म के लिए ही है। इस कारण से वह हिंसा दोष रूप नहीं है।” ॥१२३॥

‡ इस प्रकार वादि ने अपना पक्ष स्थापित करने पर (आचार्य श्री) कहते हैं—

“एयंपि ण जुत्ति-खमं, ण वयण-मित्ता उ होइ एवमिअं ।

संसार-मोचगाण वि धम्मो-ऽ-दोस-प्पसंगाओ ॥१२४॥

‡ “(तुमने जो कहा) वह युक्ति-पूर्ण नहीं है।”

‡ “क्यों ?”

‡ “युक्ति रहित वचन मात्र से सभी (सत्य) नहीं हो सकता है।”

‡ “क्यों ?”

“संसार-मोचक धर्म को मानने वालों का धर्म में दोष रहेगा नहीं। क्योंकि—वह निर्दोष बन जायगा” ॥१२४॥

विशेषार्थ

संसार-मोचक धर्म को मानने वालों का मत है कि—“दुःखियों को मार देना चाहिए, जिससे वे दुःख से मुक्त हो जाय।” वह तो बड़ा अधर्म है, तथापि वह भी बड़ा धर्म हो जायगा। और वह कृत्य निर्दोष ठहरेगा, और ऐसे ऐसे जो कार्य होगा, वह सभी निर्दोष-धर्म रूप ठहरेगा। इसे अति प्रसंग दोष इस बात में रहा है ॥१२४॥

“सिय, “तं ण सम्म-वयणं.” “इयरं सम्म वयणं-ति” किं माणं ?”

“अह लो गो च्चिय” जेयं, [न] तहा(ऽ-पाठा, विगाणा य.” ॥१२५॥

‡ “ ठोक है, किन्तु—“उन (संसार-मोचको) का वचन ठीक नहीं है।”

“तो दूसरो का (आपके शास्त्रकारों का) वचन अच्छा है,” इसमें कौनसा प्रमाण है ?”

(आप कहोगे कि—) “लोक ही प्रमाण भूत है।”

‡ “यह बात भी इस प्रकार नहीं है। क्योंकि—इस प्रकार का कोई शास्त्रपाठ नहीं है। और ‘वेद वचन प्रमाण भूत हो’ इस बात में भी लोक के वाक्यों की एकता नहीं है, (सभी लोग वेद वचन को प्रमाण भूत मानते ही हैं, ऐसा नहीं है)” ॥१२५॥

विशेषार्थ

लोक में छ ही प्रमाण माना गया है, लोगों को प्रमाण माना जाय, तो सातवां प्रमाण हो जायगा, ऐसा तो नहीं है। ॥१२५॥

“अह, पाठोऽभिमओ च्चिचय, विगाणमऽपि एत्थ थोवगाणं उ.।”

एत्थं पि ण प्पमाणं, सव्वेसिं अ-दंसणाओ उ. ॥१२६॥

‡ लोग को (प्रमाण मानने का) पाठ (उपलक्षण से) संमत है, और विशेष तो वेद को प्रमाण मानने में छोड़े ही लोगों का है।”

‡ “(तुम्हारी) यह कल्पना भी ठीक नहीं है—प्रमाण भूत नहीं है। क्योंकि—सर्व लोगों को अपने देख सकते नहीं, (तो किस पक्ष में अल्प ? या बहुत लोग हैं ? ऐसा निर्णय नहीं किया जा सकता है। तो एसी तुम्हारी कल्पना ठीक नहीं है।” ॥१२६॥

“किं तेसिं दंसणेणं ? अप्प बहुत्तं जहित्थ, तह च्चैव ।

सव्व-त्थ समवसेयं.” “णेवं, वभिचार-भावाओ.” ॥१२७॥

“सर्व लोगों को देखने का क्या प्रयोजन है ? जिस तरह इस (मध्य) देश आदि में वेद वचनों को प्रमाण मानने के लिए सभी को देखना पड़ता नहीं ।

जिस प्रकार चलता है, उस प्रकार और सभी देशों में भी समान ही है (यहां के लोग जिस तरह वेदों को प्रमाण मानते हैं, उसी तरह वहां भी मानते हैं।”

‡ “ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि—उसमें व्यक्तिगत दोष आ जाता है” ॥१२०॥

विशेषार्थ

“जिस तरह वेद वचनों को प्रमाण मानने वालों की संख्या यहां पर अधिक है, और प्रमाण भूत नहीं मानने वालों की संख्या अल्प है, उसी तरह और देशों में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए।” “ऐसा नहीं है।” ॥१२७॥

इस बात को ही समर्थित की जाती है—

‘अग्गा-ऽऽहारे बहुगा दिसंति दिआ, तथा ण सुद’त्ति ।

ण य तद्दंसणओ च्चिय सव्वत्थ इमं हवइ एव. ॥१२८॥

‡ ‘अग्र भोजन में इस देश में बहुत ब्राह्मणों देखे जाते हैं, उसी प्रकार शूद्र लोग ब्राह्मण की तरह बहुत नहीं देखे जाते हैं।’

‘ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि—इस देश में भोजन की आगे की पंक्ति में ब्राह्मणों को बहुत देखने पर भी, भोल्ल-पल्ली आदि स्थानों में ऐसा (ब्राह्मण बहुत्व) देखने में आता नहीं’ ॥१२८॥

‡ उसमें दूसरी युक्ति भी दी जाती है—

‘ण य’ बहुगाणं ऽपि इत्थं अ-विगाणं सोहणं’ ति नियमोऽथं.’ ।

ण य ‘णो थोवाणं पि हु,’ मूढेयर-भाव-जोएणं. ॥१२९॥

‘लोक में बहुलोगों की एक वाक्यता ऐकमत्य अच्छा ही है,’ ऐसा नियम नहीं है । और, ‘थोड़े की भी एक वाक्यता अच्छी नहीं है’ । ‘ऐसा भी नियम नहीं है ।’ किन्तु—मूढ भाव से—इतर भाव का योग से जो हो, वह अच्छा होता है ।’ ऐसा नियम है ॥१२९॥

विशेषार्थ

बहु होने पर भी मूढ लोगों की एक वाक्यता अच्छी नहीं होती है, और ‘मूढ भाव से रहित एक का भी कहना अच्छा होता है ।’ अर्थात् जो मूढ भाव से रहित भावसे—उसका योग से—कहा गया हो, वह अच्छा हो सकता है ।

मूढ भाव से इतर भाव का योग का अर्थ यह है कि— मिथ्या ज्ञान और मोह से प्रयुक्त क्रोध, मानादि कषाय भाव और इंद्रियों की आसक्ति, इत्यादि मूढ भाव से प्रयुक्त रहते हैं । और सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र । उसे मूढेतर भाव कहे जाते हैं । ऐसे मूढेतर भाव से प्रयुक्त जो निर्णय, विचार, वाक्य, प्रवृत्ति, वे सभी अच्छे होते हैं ।

अर्थात्-बड़े लोगों का भी मूढ व्यापार होता है। और थोड़े का मूढ व्यापार भी न हो, ऐसा मालुम पड़ता है। "बहुत कबूतर चारों के दाने देख कर, चुगने के लिए एक स्थान पर उतर गये। किन्तु एक वृद्ध कबूतर ने निषेध किया, कि-ये दाने खाने कों जाना अच्छा नहीं है। तथापि-सब उतरे। और बिछायी हुई जाल में सब फंस गये। तब सभी वृद्ध का मुंह ताकते रहे, चतुर वृद्धने कहा "यदि जाल के साथ सभी एक साथ उड़ें तों रक्षा होगी, अन्यथा, शिकारी आने पर सभी की मृत्यु अवश्यमेव होगी ही। सभी एक साथ उड़े और बच गये।"

इस कारण से, सामान्य समझ के भी बहुत लोगों का मतों को एकत्र करने से अच्छा ही निर्णय हो जाय, ऐसा कोई नियम नहीं है। उसमें से भी ज्ञानी-समझदार, निःस्वार्थी, हितेच्छु का मानने का रहता है। भारत में ज्ञानी और हितस्वी संत पुरुषों का संत शासन चलता है। और दूसरी प्रजा का हित के लिए इस देश की उन्नति करने में और स्थानीय प्रजा की अवनति करने में, "हितस्वी बड़े लोग बाधा कारी दरम्यान गिरी न कर सकें," इस हेतु से आम प्रजा को बीच में खड़ी रखने की योजना की गयी है, जिसे वह हितस्वी वर्ग दूर रह जाय। जाहीर जीवन से उन्हीं को हटाने के लिए ये सभी बाहर के लोगों का आयोजन है। यह सत्य रहस्य है। इस सत्य रहस्य को स्थिर करने के लिए यह प्राचीन गाथा कितनी प्रमाणभूत और दृढतर है? ऐसा शास्त्र प्रमाण-प्रजा का भला के लिए आज भी कितना मार्गदर्शक है? यह शान्ति से सोचना चाहिए।

‡ "ण य रागा-ऽऽह-विरहिओ कोऽवि माया विसेस कारि" ति ।

"जं सव्वे वि अ पुरिसा रागा-ऽऽह-जुआ उ." पर-पक्खे. ॥ १३० ॥

‡ "सत्य को समझाने वाला और रागादि दोष से रहित तथा सर्व को जानने वाला विशेष कारी माता-प्रमाता-ज्ञाता है ही नहीं।

इस कारण से इस-जगत् में सभी मानव रागादि युक्त है," इस तरह का मत दूसरे पक्ष का-मीमांसक दर्शन का-है। क्योंकि-वह दर्शन कोई सर्वज्ञ होने को स्वीकार नहीं करता है।" ॥ १३० ॥

विशेषार्थ

रागादि रहित ऐसा कोई सर्बज्ञ नहीं है, कि-जो "वैदिक वाक्य ही प्रमाण भूत है, दूसरे वाक्य प्रमाण भूत नहीं." ऐसा बता सके ॥१३१॥

दूसरा भी दोष बताया जाता है—

“एवं च वयण-मित्ता धम्मा-ऽदोसा-ऽऽइ मिच्छगाणं पि ।

घार्यंताणं दि-अ-वरं पुरओ णणु चंडिगा-ऽऽइणं.” ॥ १३१ ॥

∴ “इस प्रकार (प्रमाण विशेष नहीं मिलने से भी) वचन मात्र से म्लेच्छ (भील्ल) आदि की प्रवृत्ति को धर्म-रूपता और निर्दोषता प्राप्त हो जाती हैं ।

अरे ! चंडिका देवी आदि के आगे अच्छे ब्राह्मण का भी घात करने-वाले म्लेच्छादि की प्रवृत्ति धर्म रूप और निर्दोष सिद्ध हो जाती है, जो ठीक नहीं” है ॥ १३१ ॥

“न च तेसिं पि ण वयणं एत्थ निमित्तं” ति, जं ण सच्चे उ

तं तह घार्यंति सया, अ-स्सुअ-तच्चोयणा-वक्का.” ॥ १३२ ॥

“इस (द्विजवर के घात) में उन्हीं का भी वचन निमित्त भूत नहीं है, ऐसा भी नहीं है । वचन निमित्त भूत रहता है । क्योंकि-सभी म्लेच्छ लोग उसी प्रकार सदा के लिए उस (द्विजवर) का घात करते नहीं हैं, क्योंकि-उस विषय में प्रेरक [नोदना] वाक्य जिन्होंने न सुना हो, वे घात करते नहीं है !”

अर्थात्—“उस घात में भी-वचन की प्रेरणा निमित्त भूत है । ऐसा समझना चाहिये” ॥१३२॥

“अह-“तं ण एत्थ रुढं” “एअंपि ण तत्थ. तुल्लमेवेयं.” ।

“अह” तं थोवमणुचियं” “इमं पि एयारिसं तेसिं ॥ १३३ ॥”

‡ “यदि ऐसा माना जाय कि-वह (म्लेच्छ प्रतर्क वचन) इस (लोक) में रुढ नहीं हैं ।” “तो यह (वैदिक वाक्य) भी उस (भील्ल लोक) में रुढ नहीं है” इस कारण से दोनों दलीलों की समानता रह जाती है । क्योंकि दोनों भी वचन एक एक में रुढ नहीं है” !

‡ “उस (म्लेच्छ प्रवर्तक वचन) तुच्छ और अनुचित (असंस्कारि) है ।”
यदि ऐसा कहा जाय,

‡ तो, उन (म्लेच्छों) की दृष्टि में आशय भेद से इस (प्रेरक वैदिक वाक्य) में भी इस प्रकार की (तुच्छ और अनुचित आदि रूप) स्थिति रह जाय” ॥१३३॥

[गा० १३४ और गा० १३५ की अवचूरिका का भाव बराबर समझ में आता नहीं है, और जिस प्रकार से प्रतिमाशतक में छपा गया है, उस प्रकार का ही पाठ कलकत्ता के तपागच्छीय पुस्तकालय की हस्त लिखित प्रति में है, अर्थात् दोनों गाथा की योग्य अवचूरिका नहीं है । किन्तु दोनों गाथा के आगे अवतरणिका के रूपसे कुछ पाठ दिया गया है । तथापि—दोनों गाथा की छाया बनाकर अर्थ की संगति करने के लिए प्रयास किया गया है । और पंचवस्तु महाग्रन्थ में जिस तरह दोनों मूल गाथायें और उनकी अवचूरिका है, वेसी ही यहां पर दी गई है । इसका कोई उपाय नहीं है । सम्पादक]

[“अहं तं वेद्य-ऽंगं खलु” “न तंपि एमेव” “इत्थं वि ण भाणं ।”

“अहं तथाऽ-सवणमिणं” सि ए [अ-ए] मुच्छिन्न-साहं तु.” ॥ १३४ ॥

‡ “अब कहा जाता है कि—उस द्विज प्रवर्तक वाक्य वेद का अंग रूप है ।”

‡ “तो म्लेच्छ प्रवर्तक वाक्य भी वेद में न हो, उसमें कोई प्रमाण नहीं है ।”

‡ “वेद में ऐसा कोई वचन सुनने में आता नहीं है ।”

‡ (सुनने में न आवे ऐसा भी) हो सकता है, किन्तु,

(इसका कारण यह भी कहा जाय कि (वेदों की) बहुत सी शाखायें उच्छिन्न (हो गई) है, (ऐसा कहा जाता है । उसी कारण से ऐसा वचन सुनने में न भी आवे ।) ” ऐसा वे भी कह सकते हैं ।” ॥१३४॥

“ण य तव्वयणाओ च्चिय तदुमय-ऽ-भाओ ति, तुल्ल-भणिईओ.” ।

अण्णा वि कप्पणोवं साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५ ॥

‡ कहा जाय कि—“उस (वेद) वचन से ही वे दोनों (धर्म और दोषाभाव) नहीं हो सकता है ।” क्यों ?

म्लेच्छ के वचन से ही ये दोनों- धर्म और दोषाभाव-रहता है ।
ऐसा भी कहा जा सकता है ।

“(म्लेच्छ वचन से) भी धर्म और दोषाभाव नहीं हो सकता है ।”
ऐसा नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि- म्लेच्छ प्रवृत्तक वचन से भी वे दोनों
(धर्म और दोषाभाव) कहा जा सकता है । (एक पक्ष की युक्ति दूसरे पक्ष में
लागू की जाती है ।)

“और इस कारण से ही दूसरी भी कोई कल्पना की जावे, वे सभी उपरोक्त
रीति से बराबर नहीं होगी. क्योंकि- कोई साधर्म्य से, और कोई वैधर्म्य से
दूषित सिद्ध हो जायगी ।

भाव यह है कि- इस चर्चा में-जो जो दलील दी जायगी वह-
साधर्म्य और वैधर्म्य की दलीलों से दूषित बतलाई जा सकती है । अर्थात् जो-
ब्राह्मण के पक्ष में दलील दी जायगी, उस को म्लेच्छ के पक्ष में घटा कर
साधर्म्य रूप से खंडित की जा सकती । अथवा-वैधर्म्य बतला कर भी
खंडित की जा सकती, कि-“आप की दलील प्रस्तुत में बराबर बैठती नहीं।”
ऐसा प्रमाण बतलाकर खंडित की जा सकती है । क्योंकि- मूल वस्तु की
क्षति सर्वत्र ऐसी ही रह जाती है । यह रहस्य है ॥१३४, १३५॥

“अहं तं ण वेइअं खलु” “न तंपि एमेव एत्थ वि ण माणं, ।”

“अहं तथाऽसवणमिदं हविज्ज. उच्छिण्ण साहत्ता. ॥१३४॥

ण य तविवज्जणाओ उच्चिय-भावोऽत्थ, तुल्ल-भणिईओ. ।

अरणा वि कप्पणाइ साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५ ॥

(“अथ-तद्-न वैदिकं खलु” “न तदापि एवमेव, अत्राऽपि न मानम्.” ।

“अथ-तत्राऽश्रवणमिदं भवेत्, उच्छिन्न-शाखत्वात्. ॥ १३४ ॥

न च तद् विवर्जनात् उचित-भावोऽत्र, तुल्य-भणितः. ।

अन्याऽपि कल्पना साधर्म्यं वैधर्म्यं तो दुष्टा ॥ १३५ ॥ (?)

(प्रतिमाशतक की दो गाथा का पाठ इस तरह है- समझ में न
आने से अर्थ नहीं किया है ।)

‡ जिन कारणों से इस प्रकार की स्थिति है—

‘तम्हा, ण वयण-मित्तं सव्वत्थ-विसेसओ बुह-जणेणं ।

एत्थ पवित्ति णिमित्तं. एअं दड्ढव्वयं होइ.’ ॥ १३६ ॥

‘उन उपरोक्त कारणों से—विद्वान् पुरुष को, किसी खास विशेषता रहित पना से युक्ति शून्य—अर्थात् अघटमान वचन मात्र को “सर्वत्र इस लोक में हितकारी कार्यादि में प्रवृत्ति कराने में—कारण भूत नहीं है।” ऐसा समझना चाहिए ।

‘वचन—मात्रपना से हितकारी है ।’ ऐसा नहीं समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

‡ (तब क्या करना चाहिए ?)

‘किं पुण विसिद्धं चिय, जं दिड्ढिडाहिं णो खलु विरुद्धं, ।

तह संभवं [त-रूवं] स-रूवं विआरिजं सुद्ध-बुद्धि. (?) ॥१३७॥

जो वचन विशिष्ट हो, उसको ही प्रवृत्तिनिमित्तक बनाना चाहिए ।

ऐसा वचन कौनसा हो सकता है ? जो दृष्ट से और इष्ट से विरुद्ध-वचन रूप न हो, ऐसा तीसरा स्थान में रहा हुआ हो, और संभवित-स्वरूप वाला हो । (अर्थात् अत्यन्त असंभवित स्वरूप वाला न हो) । सदबुद्धि से (मध्यस्थ बुद्धि से) विचार कर, ऐसे वचन को प्रवृत्ति निमित्तक बनाने में स्वीकार करना चाहिए ॥१३७॥

‡ (दृष्टान्त दिया जाता है—)

‘जह इह, दव्व त्थयाओ भावा-SSवय-कप्प-गुण-जुया उ [जुआ सेओ]

जयणाए पिडुवगारो जिण-भवण-कारणा दित्ति (दू’-इत्ति) न विरुद्धं. ॥१३८

जिस प्रकार इस (जैन प्रवचन में) कहा गया है कि—‘भावापत्ति निस्तार गुण युक्त द्रव्य स्तव से कल्याण है। क्योंकि— पिडा होने पर भी जिन भवन करना—कराना आदि द्रव्य स्तव से—(यतना पूर्वक) पीडा करने—कराने से

भी उपकार रूप बहु गुण होता है।” ऐसा जो वचन है, सो विरुद्ध नहीं है। इस कारण से—एसा वचन का विरुद्ध-वचन-पना समझना न चाहिये ॥१३८॥

‡ इसकी स्पष्टता की जाती है,—

सह सव्वत्थाऽभावे जिणाणं, भावाऽऽवयाए जीवाणं ।

तेसिं नित्थरण-गुणं णियमेण इह तदाऽऽययणं ॥१३९॥

श्री जिनेश्वर देवों का सदा सद् भाव नहीं रहता है, और सर्वत्र विहरमानता नहीं रहती है ।

इस कारण से-जीवों को भाव-आपत्ति रहती है । उन जीवों का (भावापत्तियों से) निस्तार करने के लिए, इस जगत् में जिन मंदिर अवश्य निस्तार करने वाला (भाव आपत्तियों से जीवों को दूर कराने वाला) गुण युक्त होता है ॥ १३९ ॥

‡ (क्योंकि—)

तव्विंबस्स पइट्ठा, साहु-णिवासां अ, देसणाऽऽई अ, ।

इक्किक्कं भावाऽऽवय-नित्थरण-गुणं तु भव्वाणं ॥ १४० ॥

वहां श्री जिनेश्वर प्रभु का विंब की (स्थापना) प्रतिष्ठा होती है, तथा वहां (किसी विभाग में) उस प्रकार के साधु महात्मा पुरुषों का निवास होता रहता है, और धर्म का उपदेश आदि भी चलता रहता है । (आदि शब्द से धर्माचारण, ध्यान आदि समझ लेना ।)

उसमें से—(प्रतिष्ठा आदि) एक एक भी भव्य जीवों की भावापत्ति को दूर करने में समर्थ होता है ॥ १४० ॥

विशेषार्थः

भावापत्ति का अर्थ राग द्वेष आदि भाव दोषों को समझना चाहिए । अर्थात्—अनुबध में जिन मंदिर आदि, राग द्वेषात्मक भावापत्तियों को दूर करने में सहायक होते हैं भावापत्ति हटने से द्रव्यापत्ति हटती है ॥१४०॥

‡ (पीडा कारी-पीडा करने वाली-हिंसा पर विचार-)

पीडा-गरी वि एवं एत्थ पुढवा-SSइ-हिंस-जुत्ताओ ।

अण्णेसि गुण-साहण-जोगाओ दीसइ इहं तु [हेव] ॥१४१॥

पीडा करने वाली होने पर भी यहां पर जिन भवन कराने में पृथ्वी कायादिक जीवों की हिंसा होती ही है तथापि-वह योग्य है । क्योंकि- अन्य जीवों को स्व गुणों की साधना में वह कारण भूत है, गुणों की साधना जिन भवनादि से भी देखी जाती है । १४१ ॥

विशेषार्थ

[जीवन में बिना हिंसा का कोई कार्य नहीं हो सकता है । कार्य तो दो प्रकार के रहते हैं । सांसारिक जीवन यापन प्रवृत्ति रूप, और आध्यात्मिक गुण प्राप्ति की प्रवृत्ति रूप । दोनों कार्यों में कुछ न कुछ स्वरूप में बाह्य हिंसा रहती ही हैं । इस स्थिति में-आध्यात्मिक गुण प्राप्ति रूप कार्यों में भी अनिवाय रूप से हिंसा हो जाय, -करनी पड़े, उसको हिंसा यों नहीं मानी जाती है, कि-परिणाम में उसी से गुण प्राप्ति होती है । गुण प्राप्ति का लाभ रूप हिंसा, अहिंसा बनती है । गुण प्राप्ति के लिए इतनी भी हिंसा बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, जोस में थोड़ी भी बाह्य हिंसा न हो संपादक] । १४१ ॥

आरंभवओ य इमा आरंभ-अन्तर-निवृत्ति-दा पायं ।

एवं वि ह्यु अ-णियाणा इडा एसो वि मुख-फला ॥ १४२ ॥

(सांसारिक कार्यों में) आरंभ करने वाला जीवों के लिए, यह हिंसा प्रायः (विधि पूर्वक करने से) दूसरे आरंभ से निवृत्ति (रुकावट) रूप फल देने वाली है । और सांसारिक फल की इच्छा से रहितपना पूर्वक की जाने से ऐसी हिंसा प्रतीक्षियों को भी निर्दोष होने से-मान्य है । अर्थात्-मान्य रखनी ही पड़ती है ।

इस कारण से ही-इस प्रकार की पीडा करने वाली प्रवृत्ति भी (मात्र

स्वर्गादि देने वाली न रहने पर) मोक्ष रूप भी फल देने वाली होती है ॥१४२॥

ता एयम्मि [एईए] अ-हम्मो णो, इह जुत्तं पि विज्ज-णायमिणं ।

हंदि गुण-ऽन्तर-भावा. इहरा, विज्जस्स वि अ-धम्मो. ॥ १४३ ॥

इस कारण से इस प्रकार की पीड़ा में अधर्म नहीं है । क्योंकि-इससे गुणों की प्राप्ति होती है ।

इस विषय में- प्रथम दिया गया वैद्य का वह दृष्टान्त भी योग्य माना गया है । क्योंकि-उसमें भी लाभ होता है, इस से वैद्य की प्रवृत्ति (छेदन-भेदनादि पीड़ाकारी होने पर भी) योग्य मानी जाती है ।

यदि, वैद्य भी (लाभ प्राप्त न हो) इस प्रकार अविधि से (छेदन-भेदनादि करे, तो ऐसी पीड़ा करने में) वैद्य को भी अधर्म होता है ॥१४३॥

‡ (वेद विहित हिंसा और जिन भवनादिगत हिंसा में भेद का प्रतिपादन-)

ण थ वेय-गया चेवं सम्मं, आवय-गुण ऽन्निया एसा ।

ण थ दिट्ठ-गुणा, तज्जुय-तय-ऽन्तर णिवित्ति-दा [आ] नेव. ॥ १४४ ॥

इस कारण से-वेद गत हिंसा, जिन भवनादि गत हिंसा के समान अच्छी नहीं है । क्योंकि-वह हिंसा आपद् निवारण गुण युक्त नहीं है अर्थात् अनिवाय नहीं है । और साधु निवास आदि गुणोयुक्त भी नहीं देखी जाती । और हिंसा के बाद आरंभादि दूसरी प्रवृत्ति से निवृत्ति देने वाली भी वह हिंसा नहीं है । और पहिला भी निवृत्ति देने वाली नहीं रहती है, क्योंकि-याज्ञिक लोक प्राणि के बध में-आरंभ से प्रवृत्त रहते हैं ॥ १४४ ॥

“ण थ फलुइस-पवित्तिओ इयं मोक्ख साइगा वि” त्ति. ।

मोक्ख-फलं च सु-वयणं, सेसं अत्था-ऽऽइ-वयण-समं. ॥१४५॥

फल का उद्देश्य रखकर हिंसा की जो प्रवृत्ति की जाती है, उससे-विचार किया जाय तो भी, उस हिंसा मोक्ष देने वाली भी नहीं सिद्ध होती है ।

क्योंकि श्रुति में ही कहा गया है कि “स्वर्ग की इच्छा वालों को श्वेत और वायव्य (?) बकरे को मारना चाहिए।”

॥ श्वेतं वायव्यमऽजमाऽऽलमेत भूति कामः ॥

“मोक्ष का फल तो” इत्यादि प्रकार का श्रुति का वचन है।
सुवचन सु आगम दे सकता है।

दोष वचन-अर्थ-काम आदि देने वाला वचन समान रहता है, स्वर्गादि फल मिलने पर भी अर्थ शास्त्रादि के वचन समान रहता है। मोक्ष-फलक सुवचन नहीं रहता है ॥ १४५ ॥

‡ “यहां पर, आगम से विरोध भी बतलाया जाता है—

“अग्नी मा एआओ एणाओ मुंचड.” ति य सुई वि.।

तप्पाव-फला “अंधे तमग्नि” इच्छा-ऽऽइ य सई वि. ॥ १४६ ॥

“वेद में-श्रुति में- वाक्य है, कि—

“अग्निर्मामेतस्मादेनसो मुञ्चतु।”

“अग्नि मेरे को इस पाप से मुक्त करा दो।”

(यहां “मुञ्चतु” शब्द का अर्थ छादंस् होने से “मुक्त करा दो” ऐसा होता है। अर्थात् “हिंसा पाप का फल से मुक्त करा दो।” यह भाव है। और

“अन्धे तमसि०”

—इत्यादि स्मृति का वाक्य भी है ॥ १४६ ॥

विशेषार्थ

“अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहेः।

“हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥”

इस प्रकार स्मृति का भी वाक्य है।

“हम लोग पशु से जो यज्ञ कर रहे हैं, तो अन्धकार मय तमस् नामक नरक में डूब रहे हैं।” “हिंसा धर्म नहीं हो सकता है, भूतकाल में नहीं हुआ है, और भविष्य में भी नहीं होगा।” [अपेक्षा समझनी चाहिये। सं०]

“अत्थि जओ, ण य” एसा अण्ण-ऽत्थ [तीरइ] सकए इहं भणिडं ।

अ-विणिच्छया, ण चेवं इह सुव्वइ पाव-वयणं तु. ॥ १४७ ॥

“इस प्रकार स्मृति और श्रुति के वाक्य विद्यमान तो है, किन्तु, “उनके दूसरे अर्थ होते हैं, कि-“अविधि दोष से उत्पन्न हुआ पाप से बचाने का अर्थ है।”

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि-ऐसा कोई प्रमाण नहीं है।”

‡ और, श्री जिन भवनादिक कराने में इस प्रकार के कोई पाप वचन इस शास्त्र में-जैन शास्त्र में-प्रवचन में-तो नहीं सुना जाता है ॥ १४७ ॥

“परिणामे य [म-सु] सुहं णो तेसिं इच्छिज्जइ, ण य सुहं पि. ।

मंदा-ऽवत्थ कय-समं. ता तमुवण्णास-मित्तं तु. ॥ १४८ ॥

“जिन भवनादि कराने में जिन जीवों की हिंसा होती है, उन जीवों को परिणाम में हिंसा-निमित्तक सुख होता है।” ऐसा जैन शास्त्राकार भी मानते नहीं है ।

और हिंसा से सुख मानते नहीं है । थोड़ा थोड़ा कुपथ्य करने से उतना दुःख मालूम नहीं पड़ता है, किन्तु, वह भी परिणाम में भयंकर दुःख देने वाला होता है । उसी प्रकार-मंद कुपथ्य करते समय भी सुख का अनुभव रहता है । किन्तु वह भी वास्तव में सुख नहीं है । इस कारण से उसको सुख कहना वचन मात्र ही रहता है ॥ १४८ ॥

“अह तेसिं परिणाम० [१२१]” गाथा में पूर्व पक्षकार ने जो कहा था, उसकी स्पष्टता इस जवाब से की गई है ।

“यज्ञ में होमे गये पशुओं को परिणाम में स्वर्ग का सुख दिया जाता है ।” ऐसा भी कहना योग्य नहीं । हिंसा का विपाक दारुण होता है ॥ १४८ ॥

‡ “इय दिट्ठेइ-विरुद्धं जं वयणं, एरिसा पवत्तस्स. ।

मिच्छा-ऽऽइ-भाव-तुल्लो सुह-भावो हंदि विण्णोयो’ . ॥ १४९ ॥

इस प्रकार दृष्ट और इष्ट से विरुद्ध जो वचन हो, ऐसा वचन से, प्रवृत्ति करने वाला जो हो, उसका शुभ भाव म्लेच्छादि के शुभ भाव समान

मोह से-अज्ञान से-शुभ भाव माना गया समझना चाहिए । अर्थात्-वह शुभ भाव नहीं हो सकता है ॥ १४९ ॥

‡ “एगिंदिया-SSइ अह ते [१२३]” जिन भवनादिक में एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा होती है, ओर जीवों की हिंसा नहीं होती है।” ऐसा जैन पक्ष का खंडन करने के लिए कहा जाता है, कि-“यज्ञ में बड़े भी थोड़े जीवों की हिंसा होती है और जिन भवनादि में एकेन्द्रिय आदि बहुत जीवों की हिंसा होती है।” ऐसा कहकर जिन भवनादि में पूर्व पक्षकार ने अधिक हिंसा बतलायी है । अब उसका परिहार करने के लिए समाधान किया जाता है, कि—

“एगिंदिया-SSइ-भेयोऽवित्थ णणु पाव-भेय-हेउ.” त्ति ।

इट्ठो तएऽवि स-मए तह सुइ-दि-आ-SSइ-भेएणं. ॥ १५० ॥

इस प्रसंग में एकेन्द्रिय आदि का जो भेद (जैन शास्त्रों में) बताया गया है, वह पाप का भेद बतलाने के लिए ही है । इससे ये भेद बतलाना यहां इष्ट है, कि-छोटे जीवों की हिंसा से बड़े जीव की हिंसा में अधिक हिंसा दोष है । इस कारण से तुम्हारे मत में भी यह इष्ट मानकर, शुद्र, द्विज, इत्यादि भेद बतलाये गये हैं ॥ १५० ॥

‡ वही कहा जाता है—

“सुद्दाण सहस्सेणऽवि ण बंभ-हच्चेह घाइएणं” त्ति ।

जह, तह अप्प-बहुत्तं, एत्थ वि गुण-दोस-चिंताए. ॥ १५१ ॥

“हजार शुद्र मारने पर भी जिस तरह तुम्हारे शास्त्र में एक ब्रह्म हत्या का भी पाप नहीं होता है । उसी प्रकार यहां पर हिंसा के गुण दोष के विचार में अल्पपना का और बहुपना का विचार समझना चाहिए ॥ १५१ ॥

‡ (और एकेन्द्रियादिक जीवों की हिंसा पञ्चेन्द्रियादिक की हिंसा से अल्प हिंसा है, और यतना पूर्वक प्रवृत्ति करने वालों को ओर अल्प हिंसा लगती है, यह कहा जाता है,—)

“अप्पा य होइ एसो एत्थं जयणाए वट्टमाणस्स”. ।

“जयणा उ धम्म-सारो विण्णेया सव्व-कज्जेसु.” ॥ १५२ ॥

इस जिन भवनादिक बनाने में यतना से प्रवृत्ति करने वालों को यह हिंसा भी अल्प लगती है ।” क्योंकि- ‘ग्लानादिक की सेवा आदि सभी कार्यों में यतना ही धर्म का सार-रूप है ।” ऐसा समझना चाहिए ।

विशेषार्थः

यतना और भाव शुद्धि से प्रवृत्ति करने में हेतु हिंसा और अनुबंध हिंसा नहीं होती है । इस कारण से मात्र स्वरूप हिंसा तक हिंसा मर्यादित रह जाती है । उस कारण से उसमें अल्प हिंसा होती है । उस हेतु से थोड़ा भी कर्मबंध नहीं होता है । इस दृष्टि से ‘इडा एसा वि मोक्ख-फला ।’ [१४२] इस गाथा में-उस हिंसा को मोक्ष फल को देने वाली होने से इष्ट मानी जाने का पूर्व ही कहा गया है ।

इस बात का प्रमाण भी दिया जाता है--

“अणुमित्तोऽपि ण कस्सऽइ बन्धो वर वत्थु-पच्चया भणिओ.” ।

इति सैद्धान्तिकाः ॥ १५२ ॥

“उत्तम वस्तु निमित्तक किसी को भी अणुमात्र का भी बन्ध नहीं होता है ।”
 ऐसा सिद्धान्तकारों ने कहा है ॥ १५२ ॥

“जयणेह धम्म-जण्णो. जयणा धम्मस्स पालणी चव. ।

तव्वुडिह-करो जयणा. एग ऽंत-सुहा-ऽऽवहा जयणा.” ॥ १५३ ॥

(१) इस जगत् में यतना धर्म की माता है ।

(२) यतना धर्म को जन्म देकर उसका पालन भी करती है ।

(३) यतना धर्म को बढ़ाने वाली है ।

(४) यतना सभी ओर से कल्याण करने वाली होने से, एकान्त से सुख करने वाली है ॥ १५३ ॥

‡ (यतना का महत्त्व की अधिक स्पष्टता—)

“जयणाए वट्टमाणो जीवो समत्त-णाण-चरणाणं ।

सद्धा-बोहा-ऽऽसेषण-भाषेणाऽऽराहणो भणिओ. ॥१५४॥

यत्ना में वर्तने वाला जीव (आत्मा) श्रद्धा, बोध, और आसेवना-पालन

करने से सम्यक्त्व, ज्ञान और चास्त्र उक्त तीनों का आराधक कहा गया है ॥ १५४ ॥

एसा य होइ णियमा तय ऽहिग-दोस-विणिवारणी जेण ।

तेण णिवित्ति-पहाणा विण्णेया बुद्धिमंतेणं ॥ १५५ ॥

ऐसी यतना अनुबंध हिंसा रूप अधिक दोषों को नियम से अटका देती है । इस कारण से—इस यतना को बुद्धिमान आत्मा ने वास्तविकतया निवृत्ति अर्थात् मोक्ष रूप मुख्य फल को देने वाली समझनी चाहिए ॥ १५५ ॥

‡ (जिन भवनादिक में यतना किस प्रकार की जाती है ? यह बताया जाता है—)

सा इह परिणय-जल-दल-विसुद्ध-रूपा उ होई विण्णेया ।

“अत्थ-व्वओ महंतो, सव्वो सो धम्म-हेउ त्ति” ॥ १५६ ॥

“जिन भवनादिक के निर्माण कार्य में छाना हुआ जल और विधि से लिया हुआ दल (पदार्थों) की विशुद्धि आदि रूप यतना होती है।” ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि—प्रासुक पदार्थों का ग्रहण करने का रहता है ।

और इसमें यद्यपि धन का खर्च भी बड़ा होता है । तथापि—वह सभी धर्म के कारण भूत बनते हैं । क्योंकि—उस धन का उपयोग अच्छे स्थान में ही किया जाता है ॥ १५६ ॥

‡ प्रसंग से इस विषय में कुछ अधिक कहा जाता है:—

“एत्तो च्चिय णिद्दोसं सिप्पा-ऽऽइ-बिहाणमो जिणिदस्स ।

लेसेण स-दोसं पि हु बहु-दोस-णिवारणत्तेणं ॥ १५७ ॥

वर-बाहि-लाभओ सो सव्वुत्तम-पुण्ण-संजुओ भयवं, ।

एग-ऽत-पर-हिअ-रओ, विसुद्ध-ओगो, महा-सत्तो ॥ १५८ ॥

जं बहु-गुणं पयाणं, तं णाऊणं, तहेव दंसेइ [देसेइ], ।

ते रक्खंतस्स तओ जओधिअं, कह भवे कोसो ? ॥ १५९ ॥

तत्थ पहाणो अ अंसो बहु-दोस-मिवारणेइ जम-गुरुणो ।

नागा-ऽऽइ-रक्खणे जइ कइण-दोसे वि सुइ-जोगो ॥ १६० ॥

एवं णिवित्ति-पहाणा विण्णेया तत्तओ अहिंसेयं ।

जयणावओ उ विहिणा पूआ-SSइ-गया वि एमेव ॥ १६१ ॥”

‡ इन गाथाओं की व्याख्या—‘यतना का कारण से ही—

थोड़े अंश में सदोष होने पर भी, श्री (आदि) जिनेश्वर देव ने शिल्प आदि का जो विधान किया है, वह यतना पूर्वक होने से निर्दोष है। क्योंकि— अनुबंध में—परिणाम में— बहुत दोषों का निवारण करने वाला रहता है ॥ १५७ ॥

वही बात कही जाती है,—वह जिनेन्द्र भगवान् उत्तम बोधि की प्राप्ति से लेकर सर्वोत्तम पुण्य युक्त होते हैं, और उसी प्रकार का स्वभाव वाले होने से एकान्त से दूसरे जीवों के हित में तत्पर रहते हैं। प्रभु योग विशुद्ध योग वाले और महा सात्त्विक थे ॥ १५८ ॥

इस कारण से, प्रजा की रक्षा के लिए (प्राणियों की रक्षा के लिए भी) जो अधिक गुणकर—फायदा पहुंचाने वाला—हो, ऐसा समझकर उसको ही प्रभु बतलाते हैं। जिसको अनुबन्ध से जंसा योग्य हो, वही बतलाते हैं। तो उसमें किस प्रकार दोष हो सकता है ? ॥ १५९ ॥

वही स्पष्ट किया जाता है—उस (शिल्पादि विधान बताने) में जगद्गुरु का प्रधान अंश इस जगत् में बहुदोषों की रूकावट करने को रहता है।

जिस तरह खड्डे में पड़े हुए पुत्र का जीवन का सर्प से रक्षण करने के लिए माता बालक को खींच लेती है, और कंटकादि लगने से दुःख भी उत्पन्न होता है तथापि, शुभ योग होने से यह खींचना दोष रूप नहीं होता है। किन्तु बहुदोषों का निवारण रूप होता है ॥ १६० ॥

विशेषार्थ

एक बालक खड्डे में गिर गया। सामने से बिल से निकल कर एक विषैला सर्प आ रहा था। माता ने पुत्र की परिस्थिति जान ली। शीघ्रता से दौड़ कर खड्डे से पुत्र को हाथ पकड़ जल्दी से खींच लिया गया। पुत्र के शरीर में कांटे लगे, घर्षण से कुछ रुधिर भी निकला। ये दोष हुवे भी। किन्तु, पुत्र को

मरण से बचा लिया, इस हेतु थोड़ा दोष होने पर भी, जीवन दे कर बहुत अंश में लाभ ही उठाया गया ।

उसी प्रकार— मिथ्यत्व-कषाय-विषय लोलुपता आदि सांसारिक भावों में डूबे हुए लोगों को— धंधे, शिल्प, विवाह मर्यादा, राज्य तन्त्र आदि मार्गानुसारि मर्यादित जीवन मार्ग में स्थिर करने से— बहुत से दोषों से निवृत्त कर, बहुत से पाप से प्रजा को बचा ली है ।

दृ० जिस तरह—विवाह से एक आदि पत्नी नियत रहने से पशुओं की तरह अनियत काम भोग अटक जाता ।

इस प्रकार अनुबन्ध की अपेक्षा से वह (जिन भवनादिक बनाने में होती) हिंसा निवृत्ति-प्रधान होने से, वास्तविकतया अहिंसा जाननी चाहिए ।

उसी प्रकार—यतना युक्त आत्मा से विधि पूर्वक की जाने वाली जिनपूजा आदि में होने वाली हिंसा भी तत्त्व से अहिंसा जाननी चाहिए ॥ १६१ ॥

और दूसरा भी (जिन पूजा के विषय में) प्रासंगिक कहा जाता है, कि—

‘सिय,’ पुआओवगारो ण होइ कोऽवि पुअणिज्जाणं, ।

कय-किच्चत्तणओ, तह जायइ आसायणा चेवं ॥ १६२ ॥

पूर्वपक्षकार का प्रश्न है कि— “भले ही पूजा में अहिंसा मानों, किन्तु, जिन पूजा से किसी को कोई लाभ होने वाला है ही नहीं। वे वीतराग होने से कृतकृत्य है, तो उसी प्रकार उन्हीं की पूजा करने से उसकी आशातना ही होती है। क्योंकि—पूजा करने से पूज्य का अकृत-कृत्य पना दिखाया जाता है। जिससे—आशातना होती है, अपमान होता है ॥ १६२ ॥

ता अहिग-णिवत्तीए गुणंतरं णऽत्थि एत्थ णियमेण ।

इय एय-गया हिंसा सदोसमो होइ णायव्वा.” ॥ १६३ ॥

इस कारण से—पूजादिक में हिंसादि की अधिक निवृत्ति न होने से, दूसरा कोई लाभ ही नहीं है। इस कारण से—पूजादि में की जाती हिंसा सदोष जाननी चाहिए, क्योंकि—उससे किसी का भी उपकार नहीं होता है” ॥ १६३ ॥

विशेषार्थ

पूज्य की आशातना होती है, और पूजक को हिंसादि में प्रवृत्त रहना पढ़ता है। ऐसे दुर्बल तर्क रख दिये गये हैं ॥ १६३ ॥

‡ इस विषय में जवाब दिया जाता है, कि—

“उवगारा-ऽभावेऽपि ह्यु चिन्ता-मणि-जलण-चंदणा-ऽऽईणं ।

विहि-सेवगस्स जायइ तेहिं तो सो- पसिद्धमिणं ॥ १६४ ॥

चिन्तामणि रत्न, अग्नि और चन्दनादिक को उपकार न होने पर भी उन्हीं का विधिपूर्वक सेवन करने वाला पुरुष को उन्हीं से उपकार-लाभ होता ही है। यह बात लोक में प्रसिद्ध भी है।

रत्न से दारिद्र्य जाता है, अग्नि की सेवा से शीत मिटता है। चन्दन का उपयोग करने से उष्णता दूर होती है। वे लोक प्रसिद्धि से जड़ होने पर भी उन्हीं की सेवा से उपकार-लाभ होता है न ?” ॥ १६४ ॥

इअ कय-फिच्चेहिंतो तत्तभावे णत्थि कोइवि विरोहो ।

एत्तोच्चिअ ता (ते) पुज्जा का खलु आसायणा तीए ? ॥ १६५ ॥

इस प्रकार—कृतकृत्य पूज्यों (की पूजा) से भी उपकार होता है। इस कारण से—उनको पूजा में कोई विरोध नहीं है।

इस कारण से—कृतकृत्य गुण को धारण करने वाले होने से वे भगवंत पूज्य हैं। तो उन्हीं की पूजा से कौनसी आशातना ? ॥ १६५ ॥

(और भी लाभ बताये जाते हैं—)

अहिगरण-[ग-णि] णिवित्ति वि इहं भावेणाऽहिगरणा णिवित्तिओ ।

तदंसण-सुहजोगा गुण-ऽंतरं तीए परिसुद्धं ॥ १६६ ॥

(जिन पूजा में) भाव से अधिकरणों की आरंभादिक की निवृत्ति रहने से अधिक (दोष) निवृत्ति भी होती है। और उनके दर्शन में शुभ योग का उपयोग होने से उस पूजा से ओर शुद्ध गुणों की प्राप्ति भी होती है ॥ १६६ ॥

ता एअ-गया चेवं हिंसा “ गुणकारिणि” ति विन्नेआ ।

तह भणिअ-णायओच्चिय एसा अप्पेह जयणाए ॥ १६७ ॥

उसी कारण से—पूजागत हिंसा को भी “गुणकारी” समझना चाहिए । जिसके लिए आगे (१५५) की गाथा में न्याय बतलाया गया है, उसे जाना जाता है, कि—अधिक दोषों की निवृत्ति में निमित्त भूत बनने से, और यतना से, यहां—जिन पूजादिक में—अल्प ही हिंसा होती है ॥ १६७ ॥

‡ (संभवत् स्वरूप का उपसंहार—)

“तह, संभवंत-रूवं सव्वं सव्व-णू-वयणओ एअं ।

तं णिच्छिअं कहिआ-SSगम-पउत्त-गुरु-संपयाएहिं ॥ १६८ ॥

तथा, (उपरोक्त) सभी सर्वज्ञ के वचन से संभवित स्वरूप वाला है । असंभवित नहीं है ।

और—“संभवत्-स्वरूप वाला है,” ऐसा निर्णय भी कथितागम (अथवा हितागम अथवा आगम) से चली आती गुरु संप्रदाय-परंपराओं से किया जा सकता है—किया गया है ॥ १६८ ॥

विश्लेषार्थ

जिन भवनादि में जिस प्रकार अहिंसादिक कहे गये हैं, वे सभी सर्वज्ञ के वचन से संभवत् स्वरूप वाले हैं— अर्थात् संभवित है ।

श्री सर्वज्ञ से जाने गये पदार्थों का कथन से उत्पन्न जो आगम— उसके प्रेरक बल से उत्पन्न सतत चली आती गुरुसंप्रदाय एवं गुरु परंपरा, उसे निर्णीत कर यह सभी कहा जाता है, इससे प्रमाण भूत भी है ही ॥ १६८ ॥

‡ (पौरुषेय-अपौरुषेय की विचारणा)

“वेअ-वयणं तु नेवं. अ-पोरसेअं तु तं मयं जेण. ।

इअमऽच्च-ऽत-विरुद्धं. “वयणं च.” “अ-पोरसेअं च.” ॥ १६९ ॥

“वेद वचन इस प्रकार संभवत् स्वरूप वाला नहीं है । क्योंकि— उसको अपौरुषेय माना गया है । अर्थात् उसको रचने वाला—बोलने वाला—कोई प्रथम पुरुष माना गया नहीं है ।

“वचन है ।” और फिर भी वह “अपौरुषेय है ।” यह ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दिखाई देता ही है ॥ १६९ ॥

‡ यह स्पष्टतया समझाया जाता है—

जं “बुच्चइ” त्ति “वयणं.” पुरिसा-ऽभावे उ णेवमेअंति ।

ता तस्सेवाऽभावो णिअमेण अपोरुसेअत्ते. ॥ १७० ॥

कि—जो “बोला जाय” उसको “वचन” कहा जाता है। यह व्युत्पत्ति सिद्ध (योगिक) अर्थ का शब्द है। और पुरुष का अभाव से (कोई भी) वचन नहीं बोला जाता। इस कारण से— इस प्रकार अपौरुषेय माना जाय, तो वचन का संभव रहता ही नहीं ॥ १७० ॥

विशेषार्थ

जो बोला जाता है, इससे उसका नाम “वचन” रखा गया है। जो बोला न जावे, उसका नाम “वचन” नहीं है, इस कारण से वचन संज्ञा सार्थक रखी गई है। और जब वह-अपौरुषेय हो, तो वचन का अभाव रूप ही सिद्ध हो जाता है ॥ १७० ॥

तव्वावार [विउत्तं] -विरहितं ण य कत्थइ सुव्वईह [इहं] तं वयणं ।

सवणेऽवि य णा-ऽऽसंका अ-द्विस्स-कत्तुऽभवाऽवेइ.” ॥ १७१ ॥

किसी का बोलने का प्रयत्न बिना “वचन” कभी भी जगत् में सुनने में आता नहीं है, कदाच सुनने में आ भी जाय तो, “उसका बोलने वाला अदृश्य भी कोई होना चाहिए।” मन में सदा होती ऐसी शंका मन से दूर नहीं जाती है, क्योंकि— प्रमाण बिना वह शंका किस तरह दूर हो जा सके ?” ॥ १७१ ॥

“अ-द्विस्स-कत्तिगं णो अण्णं सुव्वइ, कइं णु आसंका ?” ।

“सुव्वइ पिसाय-वयणं कयाइ, एअं तु ण सदेव” ॥ १७२ ॥

‡ “जिसका बोलने वाला अदृश्य हो, ऐसा कोई दूसरा वचन सुनने में आता ही नहीं, तो अदृश्य बोलने वाला की आशंका किस तरह हो सकती है ?”

(क्योंकि—विपक्ष देखने में आता नहीं, मात्र सपक्ष ही देखने में आता है। अर्थात्— जो बोलता है, वह किसी को भी देखने में आता ही है। “इससे अदृश्यकर्तृक वचन नहीं मिलता है।”)

‡ “पिशाच का वचन कभी भी सुना जाता है । और उसका बोलने वाला अदृश्य रहता है । तो वेद वचन इस प्रकार का भी नहीं है क्योंकि- उसको अपौरुषेय कहा गया है । इस स्थिति में अदृश्य पिशाच का वचन तो लौकिक वचन है, अपौरुषेय नहीं है । और अपौरुषेय वेद वचन सदा सुनने में नहीं आता है” ॥१७२॥

‡ “अपौरुषेय पने को स्वीकार कर लिया जाय, तो जो दोष आता है, वह यहां पर बताया जाता है—

“वण्णाऽऽयऽ-पोरसेअं.” “लोइअ वयणाणऽवीह सव्वेसिं.” ।

“वेअभिभ को विसेसो ? जेण तहिं एसऽ-सग्गाहो.” ॥ १७३ ॥

‡ “लौकिक वचनों के भी अक्षरादि की सत्ता जगत् में इस अपौरुषेय रूप से सर्व ने मानी है । क्योंकि-अक्षरपना (और वाचकपना) आदि का इस जगत् में कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है । इस कारण से वचन अपौरुषेय है ।”

‡ “इस रीति से तो लौकिक भी सभी वचन अपौरुषेय सिद्ध हो जाते हैं, तो, वेद वचन में क्या विशेषता है ? जिस कारण से- उसका अपौरुषेय पना मानने का इतना बड़ा भारी दुराग्रह रखा जाता है ?” ॥१७३॥

“ण य णिच्छओ वि हु तओ जुज्जइ पायं कहिं चि सण्णाया ? ।”

“जं तस्सऽत्थ-पगासण-विसएह अइंदिद्या सत्ती.” ॥ १७४ ॥

‡ “कितनेक विषय में प्रायः सन्न्याय पूर्वक (अपौरुषेय) वेद वाक्यों से (अर्थ का) निर्णय भी घट सकता नहीं है ।”

‡ “(क्यों नहीं घट सकता है ?) क्योंकि-अर्थ प्रकाशन के विषय में वेद वचनों की अतीन्द्रिय शक्ति है” ॥१७४॥

“गो पुरिस-मित्त-गम्मा तद-ऽतिसओऽवि हु ण बहु-मओ तुमहं, ।

लोइअ-वयणेहिं तो दिट्ठं च कहिं चि वेहम्मं” ॥ १७५ ॥

“वह अतीन्द्रिय शक्ति पुरुषमात्र गम्य नहीं है । अतीन्द्रिय दर्शी उसका जो अतिशय है, वह आपको भी बहु सम्मत नहीं है ।

वेद वचनों का लौकिक वचनों से कुछ अंश में विधर्म्य-जुदा पना-भी देखा जाता है” ॥ १७५ ॥

“ताणोह पोरसेआणि अ-पोरसेआणि वेच-वयणाणि ।

सग्गुच्चसि-प-मुहाणं दिट्ठो तह अत्थ-भेओऽवि.” ॥१७६॥

‡ “लौकिक वचनों को लोक में पौरुषेय माने गये हैं, और वेद वचनों को अपौरुषेय माने जाय, यह परस्पर वंधर्म्य होता है ।

और, “स्वर्ग” “उवशी” इत्यादि शब्दों का अप्सरा पृथ्वी इत्यादि अर्थ भेद भी देखने में आता है । (“अप्सरा” “पृथ्वी” इत्यादि रूप अर्थ भेद भी देखने में आता है (?)”) ॥१७६॥

विशेषार्थः

इस कारण से-जो लौकिक शब्द है, वे ही वैदिक शब्द हैं । और जो लौकिक शब्द का अर्थ है, वह वैदिक शब्दों का भी अर्थ है ।

इससे, यह विचारणा खास कोई विशेषता रखती नहीं है । कोई शब्द के अर्थ भेद होने पर भी प्रायः सभी शब्द समानार्थक रहते हैं ॥ १७६ ॥

“न य तं सहावओ ञ्चिय स-ऽत्थ-पगासण-परं पईओ व्व. ।

समय-विभेआ-ऽजोगा, मिच्छत्त-पगास-जोगा य.” ॥ १७७ ॥

‡ “और, वह वेद वचन दीपक की तरह अपना स्व-अर्थ का प्रकाश करने में स्वभाव से ही समर्थ नहीं है ।”

‡ “बयों समर्थ नहीं हैं ?”

‡ “शब्द के संकेतों की समानता होने से, और असत् पदार्थ का भी कभी प्रकाश करने से, कहीं पर, ये आपत्तियाँ आ जाती हैं” ॥ १७७ ॥

‡ वही बताया जाता है,—

“इंदीवरम्मि दीवी पगासई रत्तयं अ-संतं पि ।

चंदोऽवि पीअ-वत्थं “धवलं” ति न य निच्छओ तत्तो.” ॥ १७८ ॥

‡ “जिस तरह इन्दीवर-कमल में रक्तता न होने पर भी दीपक रक्ताता को बतलाता है, और चन्द्र पीला वस्त्र को “धोला”-श्वेत बतलाता है, इस कारण से सच्चा योग्य अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता है। उसी प्रकार, अर्थ से संगत-संबंध नहीं रखने वाले वेद वचनों से भी सच्चा निर्णय नहीं हो सकता है” ॥ १७८ ॥

“एवं, नो कहि आ-ऽऽगम-पओग-गुरु-संपयाय-भावोऽवि ।

जुज्जइ सुहो इहं खलु णाएणं, छिण्ण-मूलत्ता.” ॥ १७९ ॥

“इस वेद वचन में प्रवृत्ति करने के लिए न्याय से कहे हुए आगमों के प्रयोग से जानने वाले शुभ गुरु संप्रदाय का सद्-भाव भी नहीं है।

क्योंकि—उस प्रकार के वचन का संभव नहीं है, क्योंकि—उसकी परंपरा भी मिलती नहीं है, क्योंकि—उसका मूल भी उच्छिन्न है (१) ॥ १७९ ॥

विशेषार्थः

स्वयं अर्थ प्रकाशन नहीं है, और निश्चित अर्थ का प्रकाशन करने वाली आचार्य परंपरा भी नहीं है, क्योंकि—परंपरा उच्छिन्न है। जिससे—वैदिक दर्शनों के भेदों से अर्थ भेद भी मालूम पड़ते हैं। यह प्रसिद्ध भी है ॥ १७९ ॥

(उपसंहार—)

“ण कयाइ इओ कस्सइ इह णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि ।

जाओ “त्ति कहइ, एवं जं सो तत्तं, स वामाहो.” ॥ १८० ॥

“वेद वचन से इस जगत् में कभी, किसी को, किसी वस्तु में निश्चय नहीं हुआ है”। ऐसा कहा जाता है। और ऐसा होने से “जो वैदिक है, वह तत्त्व है।” ऐसा कहना, वह ध्यामोह है, क्योंकि—“स्वयं तो अज्ञ है” ॥ १८० ॥

“तत्तो अ आगमो जो विणेअ-सत्ताण, सोऽवि एमेव ।

तस्स पओगो चेवं अ-णिवारणगं च णिअमेणं.” ॥१८१॥

“इस कारण से-वैदिक (अर्थज्ञ) [आचार्य] से शिष्य वर्ग को जो व्याख्या का बोध होता है, वह भी ऐसा ही रहता है। अर्थात् व्यामोह रूप रहता है। और-आगमार्थ का जो प्रयोग होता है, सो भी व्यामोह ही है। और जो निवारण नहीं किया जाता है, वो भी व्यामोह है। (?)” ॥१८१॥

“जेवं परंपराए माणं एत्थ गुरु संपयाओऽवि ।

रुव विसेस इवणे जह जच्च-ऽधाण सव्वेसि” ॥१८२॥

“इस प्रकार से परंपरा से चला आता गुरु संप्रदाय भी इस विषय में प्रमाण भूत नहीं बन सकता है। जिस तरह-अनादिकालीन सर्व जन्मांध पुरुषों का श्वेत और श्याम रंग का भेद बतलाने में ज्ञान और कथन प्रमाण भूत नहीं हो सकता है’ ॥१८२॥

विशेषार्थः

जन्मांध श्याम और श्वेत का भेद स्वयं पा सकता नहीं, ऐसी स्थिति अनादिकाल से सिद्ध है ॥१८२॥

‡ अब प्रतिवादी इस विषय में नई शंका उठाता है:—

“भवओऽवि अ,” सव्व-णू सव्वो आगम-पुरस्सरो जेणं ।

ता, सो अ-पोरुसेओ, इअरो वाऽणा-ऽऽगमाओ उ.” ॥१८३॥

“आपके पक्ष में भी, सभी सर्वज्ञ आगम पूर्वक ही होते हैं। क्योंकि-आगम में कहा गया है, कि-“सर्वज्ञ होने की इच्छा वालों को और केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वालों को तप, ध्यान इत्यादि करना चाहिए।” इस प्रकार आगम शास्त्र में कहा गया है। शास्त्र की उस आज्ञा से तप और ध्यानादि किये जाते हैं, तो यह आगम भी किसी सर्वज्ञ पुरुष से नहीं कहा जाने से अपौरुषेय सिद्ध होता है। क्योंकि-“आगम को कहने वाला

कोई सर्वज्ञ होगा,” ऐसा सिद्ध होता नहीं। क्योंकि-सर्वज्ञ के पूर्व ही सर्वज्ञ होने का उपदेश देने वाला आगम होना चाहिये। इससे वह भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।”

अथवा, “आगम से सर्वज्ञ नहीं होता है। और होगा, तो आगम बिना भी सर्वज्ञ का संभव बन जायेगा” ॥१८३॥

विशेषार्थः

“आगम बिना भी सर्वज्ञ बनने का संभव मानना पड़ेगा, या आगम को अनादि और अपौरुषेय मानना पड़ेगा।” प्रतिवादी का कथन का आशय यह है ॥ १८३ ॥

‡ इसका उत्तर दिया जाता है,—

“नोभयमऽवि, जमऽणा-ऽऽई बीज-ऽंकुर जीव-कम्म-जोग-समं ।

अह्वऽत्थतो उ एवं, ण वघणओ वत्त-होणं तं.” ॥ १८४ ॥

(“अर्थात्-सर्वज्ञ बिना आगम की उत्पत्ति का दोष, और आगम बिना सर्वज्ञ की उत्पत्ति का दोष) वे दोनों ही दोष नहीं लग सकता है। क्योंकि-बीज और अंकुर के समान, और जीव और कर्म के संयोग के समान-आगम और सर्वज्ञ दोनों ही अनादिक है। “यह पहिला है।” और “यह पहिला नहीं है,” ऐसी व्यवस्था नहीं है।

इस कारण से उपरोक्त दोष नहीं लग सकता है।”

अथवा “आगमार्थ से ही सर्वज्ञ होता है।” इसे-आगमार्थ और सर्वज्ञ, उन दोनों का ही बीज और अंकुर का न्याय घटाना चाहिये। किसी भी आगम को प्राप्त कर सर्वज्ञ होता है, और वास्तव में-आगम का अर्थ को प्राप्त कर सर्वज्ञ होता है। इस कारण से-“आगम के वचनो मात्र से सर्वज्ञ बने”, ऐसा नहीं है। आगम के “अर्थ” को प्राप्त कर सर्वज्ञ बनता है। “वचन मात्र” को प्राप्त कर ही सर्वज्ञ बने, ऐसा नहीं है।

क्योंकि—श्री मरुदेवादि का सर्वज्ञ पना आगम के वचन बिना— आगम के “अर्थ” का सीधा परिणमन से बना है।

इस कारण से—“आगम, वचन से ही अनादि है, ऐसा नहीं है।” क्योंकि=वचन तो वचन बोलने वाला वक्ता के आधीन ही रहता है, वक्ता के बिना वचन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण से— वचन अनादि होने पर भी बिना वक्ता वचन की प्रवृत्ति हो सकती नहीं। वचन की उत्पत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

आगम के वचनों का अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान-और तदनुसार प्रवर्तन) आत्मा में उत्पन्न क्षयोपशमादि भाव से भी हो सके, उसमें विरोध नहीं आता। अर्थात् क्षयोपशमादि से भी आगम के अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति हो सकती है, जो वचन और उसके अर्थ से अविच्छिन्न अर्थात् तदनुकूल रहती हो। इस प्रकार की स्थिति भी जगत् में देखी जाती है। १.१८४।

विशेषार्थ

अर्थात्—“आगम के वचन से ही सर्वज्ञ पने की प्राप्ति होती है,” ऐसा नियम नहीं है। उसके अर्थ रूप सामग्री से सर्वज्ञ पना प्राप्त होता है। अर्थात्— आगम के वचन से, तदर्थ प्राप्ति से, और वचन बिना भी तदर्थ प्राप्ति से, सर्वज्ञ पना प्राप्त होता है। सर्वज्ञपने का मुख्य कारण—तदर्थ का पालन है। यह रहस्य सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य है।

बीज और अंकुर का न्याय परंपरा से—प्रवाह से अनादि पना समझाता है। किन्तु व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है। क्योंकि—एक बीज से उसका अंकुर हुआ, उसी अंकुर से प्रथम का बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, दूसरा नया बीज की उत्पत्ति होती है। और उससे—दूसरा अंकुर की उत्पत्ति होती है। एक बीज का कार्य उसका अंकुर होता है, उस अंकुर का कार्य उसका नया बीज होता है। उस बीज का कार्य उसका नया अंकुर होता है। इस कारण से कार्य-कारण

भाव सादि है । तथापि—उसकी श्रृंखला अनादिकालीन है, उसी तरह जीव कर्मसंयोग व्यक्त्यषेक्षया अंशतः सादि होने पर भी उसका प्रवाह भूतकाल की तरह अनादि सिद्ध होता है ॥१८४॥

“वेद्य-वयणम्मि सव्वं णाएणाऽ-संभवंत रूवं जं ।

ता इअर वयण-सिद्धं वत्थू कह सिज्झइ तत्तो ?” ॥१८५॥

‡ वेद वचनों में आगमादि—उसके अर्थ, न्यायपूर्वक देखा जाय तो जो असंभवत् रूप है । उस कारण से दूसरे वचनों से— सद्वरूप वचनों से—(हिंसादोषादि) सिद्ध ऐसी वस्तु, मात्र वेद वचनों से ही कैसे सिद्ध हो सकती है ? ॥ १८५ ॥

विशेषार्थ

संभवत्स्वरूप से सिद्ध, वस्तु असंभवत्स्वरूप से किस तरह सिद्ध हो सके ? ॥ १८५ ॥

(दृष्टान्त से समझाया जाता है—)

ण हि रयण-गुणाऽ-रयणे कदाचिदऽवि होंति उवल-साधम्मा ।

एवं वयण-ऽतर-गुणा ण होंति सामण्ण वयणम्मि । ॥ १८६ ॥

पत्थर-पना की समानता होने पर भी—रत्न के गुण अरत्न में कदापि नहीं होते हैं । मस्तक का शूल को शांत करने का गुण रत्न में रहता है । (और वह प्रयोग से भी मालूम पड़ता है ।) यह गुण अरत्नरूप सामान्य-घंटी के पत्थर आदि—में नहीं मालूम पड़ता है ।

उसी तरह—वचन मात्र की समानता होने पर भी वचनान्तर का—विशेष गुण युक्त-वचन का—गुण—हिंसा-अहिंसादि बतलाने वाले गुण—सामान्य वचन में नहीं हो सकता है । क्योंकि—सामान्य वचन में विशिष्ट गुण का योग नहीं रहता ॥ १८६ ॥

‡ (उपसंहार—)

ता एवं, सण्णाओ ण बुहेणऽ-ट्टाण-ठावणाए उ ।

सइ लहुओ कायव्वो, चास-प्पंचास-णाएणं (?). ॥ १८७ ॥

इस कारण से—समझदार पुरुष ने, अ-स्थान में स्थापित कर—उत्तम न्याय को—दूसरे वचन में लगाकर, तुच्छ-रूप में नहीं बना देना चाहिये । अर्थात्—चास पंचास-न्याय की तरह (?) असंभवित को संभविततया ब्रतलाकर न्याय को तुच्छ नहीं बना देना चाहिये (?) ॥१८७॥

‡ उसमें युक्ति बताई जाती है—

“तह, वेए चिचअ भणिअं सामण्णेणं जहा—“ण हिंसिज्जा ।

भूआणि” . फलुहेसा पुणो अ “हिंसिज्ज” तत्थेव.” ॥ १८८ ॥

तथा, वेद में ही उत्सर्ग से सामान्यतया कहा गया है कि—“न हिंस्या-
द्भूतानि” “प्राणिओं की हिंसा नहीं करनी चाहिए ।” फिर भी फल की अपेक्षा से कहा गया है कि—

“अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः”

“स्वर्ग की इच्छा वालों को अग्निहोत्र में होम करना चाहिए ।”

इससे—“हिंसा करनी चाहिये” ऐसा उसमें (वेद में) ही देखा जाता है ॥ १८८ ॥

“ता, तस्स पमाणत्तेऽवि एत्थ णिअमेण होइ दोसो-त्ति” ।

फल-सिद्धीए वि, सामण्ण दोस-विणिवारणा-ऽभावा. ॥ १८९ ॥

तो इस कारण से—उस वचन को प्रमाण भूत माना जाय, और इस अनुसार वचन की प्रेरणा से बर्तन-पालन किया जाय, तो—स्वर्गादिक फल की प्राप्ति होने पर भी, (हिंसा) दोष की प्राप्ति लग जाती है । क्योंकि—“प्राणियों की हिंसा न करनी चाहिये,” यह सामान्य वाक्य का—औत्सर्गिक वाक्य का—अर्थ का दोष का-निवारण नहीं होता है—अर्थात्—दोष की प्राप्ति हो जाती है ॥१८९॥

‡ (दृष्टान्त से समझाया जाता है—)

जह वेज्जगम्मि दाहं ओहेण णिसेहिडं, पुणो भणियं— ।

“गंडा-ऽऽइ-खय-निमित्तं करिज्ज विहिणा तयं चेव.” ॥ १९० ॥

जिस तरह—वैद्यक शास्त्र में, दुःख करने वाला होने से सामान्यतया (शरीर को) दग्ध करने का निषेध किया गया है, तथापि फिर भी—किसी फल की अपेक्षा

से कहा गया है कि—

“मंड (ग्रंथि आदि) को नष्ट करने के लिए—अर्थात् रोग विशेष को नष्ट करने के लिए—विधि पूर्वक दाह करना चाहिये,” ऐसा कहा गया है ॥१९०॥

(फलित अर्थ क्या हुआ ? यह बतलाते हैं—)

“तसो वि किरमाणे ओह-णिसेहुभवो तहि दोसो ।

जायइ फल-सिद्धो वि. एअं इत्थं पि विण्णोयं.” ॥१९१॥

बधक-शास्त्र के वचन से दाह करने पर भी— सामान्यतया जिसका निषेध किया गया है—ऐसा औत्सर्गिक निषेध का—भंग रूप हिंसा दोष तो लगता ही है, रोग क्षय रूप फल मिलने पर भी सामान्य हिंसा रूप दोष बनता ही है । अर्थात्—सर्वतोमुखी सम्पूर्ण अहिंसा नहीं होती है ।

उसी तरह—वेद के विषय में भी समझना चाहिये, अर्थात्—वेद वाक्यों की प्रेरणा से—आज्ञा से—प्रवृत्ति करने से—उसका फल भी मिलता है, तथापि—उत्सर्ग निषेध का भंग रूप दोष तो रहता ही ।

अपेक्षा से विशेष हिंसा का फल मिलने पर भी सामान्य हिंसा का दोष निवृत्त नहीं होता है । (आपवादिक हिंसा की अपेक्षा से अहिंसा मानी जाने पर भी, औत्सर्गिकतया हिंसा रूपता नहीं जाती है) ॥ १९१ ॥

(इस प्रासंगिक विचार में— दोनों छपे ग्रन्थों की मूल गाथाएं और दोनों अक्षरकारों पाठ भेद और अशुद्धि आदि कारणों से, चर्चा की सूक्ष्मता से, तथा पूर्व पक्ष-उत्तर पक्ष की अस्पष्टता रहने से भी—विषय की तथा प्रकार की विशुद्धता करने में क्षतियां रह गई हैं । संपादक ।)

“कयमित्थ पसंगेण” “जहोचिआवेव दव्व-भाव-थया ।

अण्णोऽण्ण-समणुबिद्धा निअमेण हेंति मायव्वा.” ॥१९२॥

‡ ‘इस द्रव्य स्तवादि के विचार में जो प्रासंगिक विचार का प्रारंभ किया गया था, उसको आगे न चलाकर यहां समाप्त किया जाता है ।

‡ द्रव्य स्तव और भाव स्तव यथा योग्यता के अनुसार अर्थात्-गौण और मुख्यता की अपेक्षा से परस्पर अवश्य संबंध रखने वाले हैं। अर्थात्-परस्पर गुंथे हुए जानने चाहिए। जो ऐसा न हो तो, दोनों का स्व स्वरूप ही रह सकता नहीं।

विशेषार्थः

भाव स्तव की अपेक्षा से ही द्रव्य स्तव का स्वरूप रहता है। और द्रव्य स्तव की अपेक्षा से ही भाव स्तव का स्वरूप रहता है। द्रव्य और भाव का व्यवहार ही परस्पर को सापेक्ष है ॥ १९२ ॥

“अप्प-विरिअस्स पढमो, सह कारि-विसेस-भूअमो सेओ।

इअरस्स बड्झ-चाया इअरो च्चिअ” एस परम-उत्थो ॥ १९३ ॥

‡ जिसके आत्मा का वीर्य बल-अल्प होता है, उसके लिए पहिला-द्रव्य-स्तव-खूब सहकारी-सहायक बनकर रहता है, और उसका वीर्योत्लास के लिए श्रेस्कर होता ही है। और दूसरा-अर्थात् भाव स्तव-जिस आत्मा का वीर्योत्लास अधिक हो, ऐसे मुनि को बाह्य द्रव्य स्तव का त्याग होने से दूसरा-अर्थात् भाव स्तव श्रेयस्कर होता है। यहाँ रहस्यार्थ-साधु को बाह्य पदार्थों का त्याग रहने से बाह्य द्रव्य स्तव का भी त्याग रहता है ॥ १९३ ॥

‡ इससे उल्टा किया जाय, तो क्या दोष हो जाय ? वह बतलाया जाता है,-

द्व्व-त्थयंपि काउं ण तरइ जो अप्प वीरिअत्तेणं,।

परिसुद्धं भाव-थयं काही सोऽ-संभवो एस ॥ १९४ ॥

जिस आत्मा का वीर्य अल्प विकसित हो, एसा आत्मा यथा योग्य रीति से द्रव्य-स्तव भी नहीं कर पाता है, और “वह परिशुद्ध भाव-स्तव को करेगा”, यह असंभव है। क्योंकि- इस आत्मा में तथा-प्रकार की योग्यता प्रकट नहीं हुई रहती है ॥ १९४ ॥

‡ यहां स्पष्टता की जाती है, कि—

जं सो उत्कृष्टयरं अविक्त्वइ वीरिअं इहं णिअमा ।

ण हि पल-सयंपि वोढुं अ-समत्थो पव्वयं वहइ, ॥ १९५ ॥

जो भाव स्तव है, वह शुभ आत्म परिणाम रूप होने से उत्कृष्ट वीर्य की ही अपेक्षा रखता है, इस कारण से—अल्प वीर्य वाला उसको किस तरह कर सके ? जो अल्प शक्ति वाला पुरुष होने से पल का भी भार नहीं उठा सकता है, वह पर्वत का भार कैसे उठा सके ? तो यहां, द्रव्य स्तव का भार सो पल समान है, और भाव स्तव का भार पर्वत का भार समान है ॥ १९५ ॥

विशेषार्थः

भाव स्तव के योग्य वीर्य प्राप्त करने का उपाय भी द्रव्य स्तव ही है । द्रव्य स्तव के बिना भाव स्तव की प्राप्ति नहीं हो सकती है । प्रतिमा बहन की माफक इस विषय में अनियम नहीं है ।

जुत्तो पुण एस कमो []

“यह क्रम योग्य है ।” अंसा कहा गया है ।”

अलग अलग प्रकार के द्रव्य स्तवों की भाव स्तव की प्राप्ति के उपाय के सहाय से नियत क्रम रूप है । और गुण स्थानकों का क्रम भी अस्त व्यस्त नहीं होता है । अर्थात् गुण स्थानों की प्राप्ति भी क्रमिक होती है, इत्यादि कारणों से द्रव्य स्तव और भाव स्तव का क्रम नियत ही है ।

अर्थात्— भाव स्तव की प्राप्ति द्रव्य स्तव से ही होती है । किसी को भवान्तर में द्रव्य स्तव की प्राप्ति हुई हो, और इस जन्म में भाव स्तव की प्राप्ति हुई हो । किन्तु भाव स्तव की प्राप्ति के पूर्व द्रव्य स्तव की प्राप्ति अवश्य होनी चाहिए, यह नियम है ॥ १९५ ॥

ऐसी बात कहकर अधिक स्पष्टता की जाती है—

जो बज्झ च्चाएणं णो इत्तिरिअंपि णिग्गहं कुणइ, ।

इह अप्यणो सया से सव्व-च्चाएण कहं कुज्जा ? ॥ १९६ ॥

जो आत्मा बाह्य त्याग कर वंदनादिक के लिए—थोड़ा काल के लिए

भी मन के उपर निग्रह नहीं कर सकता है, ऐसा क्षुद्र आत्मा यावत् जीव का सर्व त्याग कर आत्मा का निग्रह किस तरह कर सकता है ? ॥ १९६ ॥

‡ उन दोनों में बड़ा पने का और छोटा पने का विधि बतलाते हैं—

आरंभ च्चाएणं णाणाऽऽइ-गुणसु वडुमाणसु ।

द्वव त्थय [परि] हाणी वि हु न होइ दोसाय परिसुडाः ॥१९७॥

‡ द्रव्य स्तव में रहती हुई त्रुटि भी द्रव्य स्तव के करने वालों के लिए दोष के लिए नहीं होती है । । क्योंकि—आरंभ का त्याग करने से—ज्ञानादि गुणों में वृद्धि होने से, वह (द्रव्य स्तव में रहती त्रुटि) भी परिशुद्धि के लिए रहती है, क्योंकि—उसकी अच्छी परंपरा चलती रहती है (जो आगे जाकर भाव स्तव को लाती है) ॥ १९७ ॥

‡ इस विषय में शास्त्रीय युक्ति भी दी जाती है—

एतोच्चिचय णिद्धिदो धम्मम्मि चउव्विहम्मि वि क्कमोऽयं ।

इह दाण-सील-तव-भावणामए, अण्णहाऽजोगाः ॥ १९८ ॥

इस कारण से—चारों प्रकार के धर्म में निम्न प्रकार से बताया गया यह क्रम द्रव्य स्तव पना से भी जैन शास्त्र में बताया गया है। दान, शील, तप और भानना। ऐसा क्रम बिना धर्म का योग कभी नहीं हो सकता है। १९८॥

‡ यहां क्रम का रहस्य स्पष्ट किया जाता है—

संतं पि बज्झमऽ णिच्चं, थाणे दाणंपि जो ण विअरेइ, ।

इय खुडुओ क्हं सो सीलं अइ-दुडर धरइ ? १९९ ॥

बाह्य वस्तु अनित्य होने पर भी, योग्य पात्र में आहारादिक का जो क्षुद्र वृत्ति के कारण से क्षुद्र आत्मा दान नहीं दे सकता है, इस कारण से—यह वराक अर्थात् रांकड़ा, प्रबल महापुरुषों से आचरण करने योग्य अति दुर्धर शील का पालन किस तरह कर सकता है ? अर्थात् - नहीं कर सकता है ॥ १९९ ॥

अ-स्सीलो अ ण जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओऽवि ।

जह-सत्तीएऽ-तवस्सी भावइ कह भावणा-जालं ? ॥ २०० ॥

और जो शीलवन्त नहीं है, वह मोक्ष का कारण भूत तप का विषय भूत किस तरह हो सकता है ? अर्थात् तप को करने वाला किस तरह हो सकता है ? और जो मोह के परवश होकर, यथा-शक्ति भी तप नहीं करता है, वह भावनाओं का समूह को किस तरह भाव सके ? अर्थात् वह वास्तविकतया भावना धर्म को नहीं कर सकता है ॥ २०० ॥

[इत्थं च] एत्थं कम दाण-धम्मो दब्ब-त्थय-रूवमो गहेयव्वो ।

सेसा उ सु-परिसुद्धा णेआ भाव-त्थय-स-रूवा ॥ २०१ ॥

† यहां पर क्रम ऐसा है, कि—दान धर्म को द्रव्य स्तव रूप जानने का है, क्योंकि—यह मौण धर्म रूप है। और परिशुद्ध शेष तीन (शील-तप भावना) को भाव स्तव रूप समझना चाहिए। क्योंकि—यह तीन मुख्य धर्म रूप है ॥ २०१ ॥

† इस प्रकार से—“धर्म की भेद-प्रभेद युक्त अनेक-विध-व्यवस्था धर्म रूप है।” इस तरह से धर्म के सभी प्रकारों की घटना—विवेचना—करने की महत्त्व की सूचना स्याद्-वाद के आश्रय से व्यवस्थित तया की जाती है,—

इय आगम-जुत्तीहिं य तं तं सुत्तमऽहिगिच्च धारेहिं ।

दब्ब-थया-ऽऽदि रूवं विवेइयव्वं सु-बुद्धीए ॥ २०२ ॥

धीर पुरुषों ने सूक्ष्म बुद्धि पूर्वक उस उस सूत्र के अधिकार की अपेक्षा से आगम-शास्त्र में बतलाई हुई युक्तियों से द्रव्य-स्तव भाव-स्तव आदि रूप में अच्छी तरह से विवेचना—घटना—करनी चाहिये ॥ २०२ ॥

विशेषार्थ

विविध रूप से शास्त्रों में बतलाया गया मोक्ष साधक आध्यात्मिक बिकास के क्रम को परस्पर में घटना करके समझाया जा सकता है। दृष्टान्त देकर उसका मार्ग फरमाया है ॥ २०२ ॥

† ग्रन्थ की उत्कृष्टता की स्तुति और समग्रतया ग्रन्थ का उपसंहार—

एसेह थय परिण्णा समासओ वणिणया मए तुज्झ [तुभं] ।

वित्थरओ भाव-ऽत्थो इमीए सुत्ताउ णायव्वो ॥ २०३ ॥

यहां पर मैंने तुम्हारी सामने स्तव-परिज्ञा पद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है। इसका विस्तार से भावार्थ श्री आगम सूत्रों से जानना चाहिये ॥ २०३ ॥

‡ अवचूरिकार से की गई ग्रन्थ की उत्तमता की स्तुति—

जयइ थय-परिन्ना, सार-निट्टा, सु-वन्ना,
सु-गुरु-कय-अणुन्ना, दाण-वक्खाण-गुन्ना,
नय-निउण-पइन्ना, हेउ-दिट्ठ-त-पुन्ना,
गुण-गण-परिकिन्ना, सब्ब-दोसेहिं सुन्ना ॥ ॥

सारों से भरपूर भरी ऐसी अच्छे वर्णों से युक्त, उत्तम गुरुओं से जिसकी आज्ञा फरमाई गई है।

दान-धर्म के व्याख्यान के गुण युक्त (?)। नय को अच्छी तरह से जानने वालों से अर्थात् नय निपुण पुरुषों से कही गयी, हेतु और दृष्टान्तों से पूर्ण भरी, गुणों का समूह से व्याप्त, और सर्व दोषों से रहित, एसी स्तव परीक्षा (विश्व में) विजय पाती है ॥ १ ॥

अवचूरिकार उपाध्याय श्री मद् यशोविजय वाचक कृत पारमार्थिक आशिर्वचन—

इति स्तव-परिज्ञया किमऽपि तत्वमुच्चैस्तरं
यशोविजय - वाचकं यदुदऽभावि भावा-ऽर्जितम्, ।
ततः कु-मत-वासना-विष-विकार-वान्तेर्बुधाः
सुधा-रस-पानतो भवत वृत्ति-भाजः सदा ॥ २ ॥

श्री यशोविजय वाचक ने स्तव परीक्षा के साथ भाव पूर्वक का संबंध से जो कुछ उत्तम प्रकार की वस्तु को (पुण्य को) उपार्जन कर, जो कुछ पाया हो, उससे कुमत की वासना रूप विष का वमन हो जाने से, बुध पुरुषों अमृत रस का पान से सदा संतुष्ट होकर रहो ॥ २ ॥

तन्त्रैः किमऽन्यैर्भग्नेव भ्रान्तिः स्तव - परिज्ञया ? ।

ध्वस्ता पान्थ-तृषा नद्या, कृपाः सन्तु सहस्रशः ॥ ३ ॥

यदि नदी से मुसाफिर की तृषा मिट जाती है, तो हजारों कुबें भले ही हो, इससे क्या ? उसी तरह, स्तव परिज्ञा से भ्रान्ति दोष मिट जाता है, तो दूसरे अन्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है ? इससे, “स्तव परीक्षा बहुत उच्च प्रकार का शास्त्र है।” ऐसा सूचित किया जाता है ॥ ३ ॥

मेरा क्षतियां रूप दुष्कृत संत कृपया मिथ्या हो ।

प्रभुदास बेचरदास पारेख कृत-संपादित—

सावचूरिक-स्तव-परिज्ञा की [हिन्दी] भावार्थ-चन्द्रिका संपूर्ण

[२०२५ भाद्रपद में, राजकोट-२] ।

